

Chapter सत्रह

भगवान् कृष्ण द्वारा वर्णाश्रम प्रणाली का वर्णन

भगवान् श्रीकृष्ण हंस का रूप धारण करके ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ आश्रमों के कार्यों का वर्णन कर चुके थे। अब इस अध्याय में वे इन्हीं की अधिक चर्चा उद्धव से करते हैं।

जब उद्धव श्रीकृष्ण से वर्णाश्रम धर्म के सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों के विषय में जिज्ञासा करते हैं, तो भगवान् उत्तर देते हैं कि सत्ययुग में केवल एक ही सामाजिक व्यवस्था थी जिसे हंस कहते हैं। उस युग में लोग जन्म से ही शुद्ध भक्ति के प्रति समर्पित रहते थे और चूँकि हर व्यक्ति सभी प्रकार से पूर्ण होता था इसलिए वह युग कृतयुग कहलाता था। तब वेद ॐ नामक पवित्र अक्षर के रूप में प्रकट थे और भगवान् की अनुभूति धर्म रूप चतुष्पाद वृषभ के रूप में मन के भीतर की जाती थी। तब यज्ञ विधि का सूत्रपात नहीं हुआ था और निष्पाप लोग स्वभाव से तपोन्मुखी होने के कारण भगवान् के साकार रूप का ध्यान करते थे। इसके बाद त्रेतायुग में भगवान् के हृदय से तीन वेद प्रकट हुए और उन्हीं से यज्ञ-अग्नि के तीन रूप प्रकट हुए। उसी समय भगवान् के शरीर के अंगों से चार वर्णों तथा चार आश्रमों का उद्भव हुआ जो समाज के विभिन्न वर्गों के लिए भौतिक एवं आध्यात्मिक कर्तव्यों को निर्धारित करते हैं। भगवान् के ऊपरी तथा निचले अंगों से जन्म लेने के अनुसार इन वर्णाश्रमों में उच्च तथा निम्न गुण आये। इस वर्णन के बाद भगवान् कृष्ण चारों वर्णों के तथा इन वर्णों के बाहर के लोगों के स्वभावों की व्याख्या करते हैं। वे सामान्य मानवता से सम्बद्ध गुणों का भी वर्णन करते हैं।

उच्च आश्रमों के सदस्य दूसरा जन्म स्वीकार कर सकते हैं। उपनयन संस्कार के बाद उन्हें गुरुकुल जाना होता है। छात्र (ब्रह्मचारी) को शान्तचित्त होकर वेदाध्ययन में लीन होना चाहिए। उसे चोटी

रखनी चाहिए। उसे दाँत साफ करना, अपने लिए अच्छा आसन बनाना, स्नान या शौच करते समय बातें करना, बाल तथा नाखून कटाना या वीर्यस्खलन करना वर्जित रहता है। उसे दिन में तीन बार संध्या-अर्चन करना चाहिए और ईर्ष्यामुक्त होकर अपने गुरु की सेवा करनी चाहिए। ब्रह्मचारी को भिक्षा में जो भी भोजन तथा अन्य वस्तुएँ मिलें, उन्हें लाकर अपने गुरु को अर्पित करना चाहिए। भगवान् का भोग लगाने पर जो मिले उससे ही पेट-पालन करना चाहिए। उसे अपने गुरु के पाँव दबाने चाहिए, गुरु की पूजा करनी चाहिए और समस्त इन्द्रियतृप्ति से बच कर ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना चाहिए। उसे मनसावाचाकर्मणा परमात्मा रूप में भगवान् की पूजा बताई गई विधि से करनी चाहिए। ब्रह्मचारियों के लिए स्त्रियों को देखना, छूना, उनसे बातें करना या उनके साथ खिलवाड़ करना पूर्णतया वर्जित है। सभी वर्णाश्रम-सदस्यों को स्वच्छता का तथा जल द्वारा शुद्धि का निर्वाह करना चाहिए। हर एक को यह भी सलाह दी जाती है कि वह सदैव स्मरण रखे कि भगवान् सबों के हृदयों में वास करते हैं।

वेदों के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने के बाद, जिस ब्राह्मण में भौतिक इच्छाएँ हों वह अपने गुरु से आज्ञा लेकर गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर सकता है। अन्यथा, यदि वह भौतिक इच्छाओं से रहित है, तो वह वानप्रस्थ या संन्यासी बन सकता है। एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश करते समय, क्रम का ध्यान रखना होता है। गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के लिए इच्छुक व्यक्ति को अपनी ही जाति की, जो आपत्तिजनक नहीं है, अपने से कम उम्र वाली पत्नी स्वीकार करनी चाहिए।

द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन वर्णों के अनिवार्य कर्तव्य हैं—भगवान् की पूजा, वेदाध्ययन तथा दान देना। दान लेना, अन्यो को पढ़ाना तथा अन्यो के लिए यज्ञ करना—ये वृत्तिपरक कर्तव्य केवल ब्राह्मणों के विशेषाधिकार हैं। यदि कोई ब्राह्मण यह सोचता है कि इन कर्तव्यों में संलग्न होने से उसकी चेतना दूषित होती है, तो वह खेतों से अन्न बीन कर अपनी जीविका चला सकता है। यदि वह दरिद्रता से विचलित हो जाय तो वह क्षत्रिय या वैश्य का पेशा अपना सकता है किन्तु उसे शूद्र का पेशा कभी नहीं अपनाना चाहिए। ऐसी ही परिस्थिति में एक क्षत्रिय वैश्य का पेशा (वृत्ति) अपना सकता है और एक वैश्य शूद्र की वृत्ति ग्रहण कर सकता है। किन्तु जब आपात्काल बीत जाय तो निम्न वृत्ति में बने रहना ठीक नहीं है। अपने निजी कर्तव्य में स्थिर ब्राह्मण क्षुद्र भौतिक इच्छाएँ त्याग देता है, वैष्णवों की सेवा करता है और भगवान् के संरक्षण में रहता है। गृहस्थ को प्रतिदिन वेदाध्ययन करना

चाहिए और अपनी वृत्ति की मेहनत की कमाई से अपने आश्रितों का लालन-पालन करना चाहिए। जहाँ तक हो सके, उसे अनुष्ठानिक यज्ञों (कर्मकाण्ड) द्वारा भगवान् की पूजा करनी चाहिए। भौतिक जीवन से निर्लिप्त रह कर तथा भगवद्भक्ति में दृढ़ रहते हुए, गृहस्थ अन्त में वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर सकता है, जिससे वह अपने को पूरी तरह भगवान् की पूजा में लगा सके। यदि उसका पुत्र वयस्क हो चुका हो, तो वह सीधे संन्यास ग्रहण कर सकता है। किन्तु ऐसे व्यक्ति जो स्त्रियों के प्रति अत्यन्त आसक्त रहते हैं, जिनका कोई दृढ़ संकल्प नहीं होता और जो सम्पत्ति के पीछे दीवाने रहते हैं, वे निरन्तर अपने परिवार वालों के कल्याण की चिन्ता में मग्न रहते हैं और अगले जन्म में निम्न योनि में जन्म लेते हैं।

श्रीउद्धव उवाच

यस्त्वयाभिहितः पूर्व धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः ।

वर्णाशमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि ॥ १ ॥

यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् ।

स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तन्ममाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; यः—जो; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अभिहितः—कहा गया; पूर्वम्—पहले; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; त्वत्-भक्ति-लक्षणः—अपनी भक्ति के लक्षणों से युक्त; वर्ण-आश्रम—वर्णाश्रम प्रणाली का; आचारवताम्—श्रद्धालु अनुयायियों के; सर्वेषाम्—समस्त; द्वि-पदाम्—सामान्य मनुष्यों के (जो वर्णाश्रम प्रणाली नहीं अपनाते); अपि—भी; यथा—के अनुसार; अनुष्ठीयमानेन—सम्पन्न किये जाने की विधि; त्वयि—तुममें; भक्तिः—प्रेमाभक्ति; नृणाम्—मनुष्यों में; भवेत्—हो सके; स्व-धर्मेण—अपने वृत्तिपरक कार्य से; अरविन्द-अक्ष—हे कमलनयन; तत्—वह; मम—मुझसे; आख्यातुम्—बतलाना; अर्हसि—तुम्हें चाहिए।

श्री उद्धव ने कहा : हे प्रभु, इसके पूर्व आपने वर्णाश्रम प्रणाली के अनुयायियों द्वारा तथा सामान्य अनियमित मनुष्यों द्वारा भी अनुकरण किये जाने वाले भक्ति के सिद्धान्तों का वर्णन किया है। हे कमलनयन, अब कृपा करके मुझे बतलाइये कि इन नियत कर्तव्यों को समपन्न करके सारे मनुष्य किस तरह आपकी प्रेमाभक्ति प्राप्त कर सकते हैं?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण पहले ही ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा अष्टांग-योग की विस्तृत व्याख्या कर चुके हैं। अब उद्धव यह पूछते हैं कि जो लोग कर्म-योग की ओर उन्मुख होते हैं, वे किस तरह जीवन-सिद्धि अर्थात् कृष्णभावनामृत प्राप्त कर सकते हैं। *भगवद्गीता* (४.१३) में भगवान् कृष्ण बतलाते हैं कि वे ही वर्णाश्रम प्रणाली के स्रष्टा हैं। *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म-विभागशः।* इसलिए

वर्णाश्रम प्रणाली का चरम लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को भगवान् का भक्त बन कर शुद्ध भक्ति की विधि सीखनी चाहिए। शुद्ध भक्ति प्राप्त करने की सबसे सरल विधि है भगवद्भक्तों की संगति करना। यदि कोई व्यक्ति विनीत होकर तथा श्रद्धा भाव से शुद्ध भक्तों की संगति करता है, तो उसे तुरन्त ही जीवन-सिद्धि प्राप्त हो सकती है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को वर्णाश्रम प्रणाली की सारी औपचारिकताएँ नहीं करनी पड़तीं क्योंकि भगवत्प्रेम में लीन होने के कारण कृष्णभावनाभावित व्यक्ति समस्त इन्द्रियतृप्ति तथा मनोरथों को स्वतः त्याग देता है। जो मनुष्य वर्णाश्रम प्रणाली का पालन कहीं करते, उन्हें यहाँ पर द्वि-पदाम्—दो पैरों वाला कहा गया है। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति जीवन के धार्मिक पथ का अनुसरण नहीं करता, वह दो पैर होने के कारण द्विपदाम् कहलाता है। सामान्य पशु तथा कीड़े भी खाने, सोने, संभोग करने तथा अपनी रक्षा करने में लगे रहते हैं। किन्तु मनुष्य ऐसी निम्न योनियों से भिन्न माना जाता है क्योंकि उसमें धार्मिक बनने और अन्ततः शुद्ध कृष्णभावनामृत में ईश्वर से प्रेम करने की क्षमता पाई जाती है।

पुरा किल महाबाहो धर्म परमकं प्रभो ।

यत्तेन हंसरूपेण ब्रह्मणेऽभ्यास्य माधव ॥ ३ ॥

स इदानीं सुमहता कालेनामित्रकर्शन ।

न प्रायो भविता मर्त्यलोके प्रागनुशासितः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

पुरा—प्राचीन काल में; किल—निस्सन्देह; महा-बाहो—हे बलशाली भुजाओं वाले; धर्मम्—धार्मिक नियमों को; परमकम्—महानतम सुख प्रदान करने वाला; प्रभो—हे प्रभु; यत्—जो; तेन—उससे; हंस-रूपेण—हंस के रूप में; ब्रह्मणे—ब्रह्मा को; अभ्यास्य—आपने कहा; माधव—हे माधव; सः—वही (धर्म का ज्ञान); इदानीम्—इस समय; सु-महता—अत्यन्त लम्बे; कालेन—समय के बाद; अमित्र-कर्शन—शत्रु के दमनकर्ता; न—नहीं; प्रायः—सामान्यतया; भविता—होगा; मर्त्य-लोके—मानव समाज में; प्राक्—पहले; अनुशासितः—उपदेश दिया गया।

हे प्रभु, हे बलिष्ठ भुजाओं वाले, आपने इसके पूर्व अपने हंस रूप में ब्रह्माजी से उन धार्मिक सिद्धान्तों का कथन किया है, जो अभ्यासकर्ता को परम सुख प्रदान करने वाले हैं। हे माधव, तब से अब काफी काल बीत चुका है और हे शत्रुओं के दमनकर्ता, आपने जो उपदेश पहले दिया था उसका महत्त्व शीघ्र ही समाप्त हो जाएगा।

वक्ता कर्ताविता नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवि ।

सभायामपि वैरिञ्च्यां यत्र मूर्तिधराः कलाः ॥ ५ ॥

कर्त्रावित्रा प्रवक्त्रा च भवता मधुसूदन ।
त्यक्ते महीतले देव विनष्टं कः प्रवक्ष्यति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

वक्त्रा—बोलने वाला; कर्ता—सृजन करने वाला; अवित्रा—रक्षक; न—नहीं; अन्यः—कोई दूसरा; धर्मस्य—सर्वोच्च धार्मिक नियमों का; अच्युत—हे अच्युत; ते—आपकी अपेक्षा; भुवि—पृथ्वी पर; सभायाम्—सभा में; अपि—भी; वैरिञ्चयाम्—ब्रह्मा की; यत्र—जहाँ पर; मूर्ति-धराः—साकार रूप में; कलाः—वेद; कर्त्रा—कर्ता या स्रष्टा द्वारा; अवित्रा—रक्षक द्वारा; प्रवक्त्रा—बोलने वाले के द्वारा, वक्त्रा द्वारा; च—भी; भवता—आपके द्वारा; मधुसूदन—हे मधुसूदन; त्यक्ते—छोड़ देने पर; मही-तले—पृथ्वी पर; देव—मेरे स्वामी; विनष्टम्—वे विनष्ट हुए धर्म के नियम; कः—कौन; प्रवक्ष्यति—कहेगा।

हे अच्युत, इस पृथ्वी पर या ब्रह्मा की सभा तक में, परम धार्मिक नियमों का आपके सिवा कोई ऐसा वक्त्रा, स्रष्टा तथा रक्षक नहीं है जहाँ साक्षात् वेद निवास करते हैं। इस तरह हे मधुसूदन, जब आध्यात्मिक ज्ञान के स्रष्टा, रक्षक तथा प्रवक्त्रा आप ही पृथ्वी का परित्याग कर देंगे, तो इस विनष्ट ज्ञान को फिर से कौन बतलायेगा?

तत्त्वं नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः ।
यथा यस्य विधीयेत तथा वर्णय मे प्रभो ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; त्वम्—तुम; नः—हम (मनुष्यों) के बीच; सर्व-धर्म-ज्ञ—हे धर्म के नियमों के परम ज्ञाता; धर्मः—आध्यात्मिक पथ; त्वत्-भक्ति—आपकी भक्ति से; लक्षणः—लक्षणों वाले; यथा—जिस तरह से; यस्य—जिसका; विधीयेत—सम्पन्न किया जा सके; तथा—उस तरह से; वर्णय—कृपया वर्णन करें; मे—मुझसे; प्रभो—हे प्रभु।

अतएव हे प्रभु, समस्त धार्मिक नियमों का ज्ञाता होने के कारण आप मुझसे उन मनुष्यों का वर्णन करें जो आपके भक्ति-मार्ग को सम्पन्न कर सकें और यह भी बतायें कि ऐसी भक्ति कैसे की जाती है?

श्रीशुक उवाच

इत्थं स्वभृत्यमुख्येन पृष्टः स भगवान्हरिः ।
प्रीतः क्षेमाय मर्त्यानां धर्मानाह सनातनान् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; स्व-भृत्य-मुख्येन—अपने श्रेष्ठ भक्तों द्वारा; पृष्टः—पूछे जाने पर; सः—वह; भगवान्—भगवान्; हरिः—श्रीकृष्ण; प्रीतः—प्रसन्न हुए; क्षेमाय—कल्याण के लिए; मर्त्यानाम्—समस्त बद्धजीवों के; धर्मान्—धार्मिक नियमों को; आह—कहा; सनातनान्—नित्य।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब भक्त प्रवर, श्री उद्धव, ने इस तरह भगवान् से प्रश्न किया, तो यह सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए और उन्होंने समस्त बद्धजीवों के कल्याण हेतु उन धार्मिक नियमों को बतलाया जो शाश्वत हैं।

श्रीभगवानुवाच

धर्म्य एष तव प्रश्नो नैःश्रेयसकरो नृणाम् ।
वर्णाश्रमाचारवतां तमुद्धव निबोध मे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; धर्म्यः—धर्म के प्रति आज्ञाकारी; एषः—यह; तव—तुम्हारा; प्रश्नः—प्रश्न; नैःश्रेयस-करः—शुद्ध भक्ति का कारण; नृणाम्—सामान्य मनुष्यों के लिए; वर्ण-आश्रम—वर्णाश्रम प्रणाली का; आचार-वताम्—पालन करने वालों के लिए; तम्—उन सर्वाच्च धार्मिक नियमों को; उद्धव—हे उद्धव; निबोध—सीखो; मे—मुझसे।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, तुम्हारा प्रश्न धार्मिक नियमों के अनुकूल है, अतः यह सामान्य मनुष्यों को तथा वर्णाश्रम प्रणाली का पालन करने वाले दोनों ही को जीवन में सर्वोच्च सिद्धि, अर्थात् शुद्ध भक्ति को जन्म देता है। अब तुम मुझसे उन परम धार्मिक नियमों को सीखो।

तात्पर्य : नैःश्रेयस-कर शब्द उसे सूचित करता है, जो जीवन की सर्वोच्च सिद्धि—कृष्णभावनामृत—प्रदान करता है, जिसका वर्णन श्री उद्धव से भगवान् कर रहे हैं। धार्मिक नियमों पर विचार करते समय सामान्य मनुष्य साम्प्रदायिक सांसारिक विचारों में फँसे रहते हैं। जो विधि जीवन की सर्वोच्च सिद्धि दिला सके, उसे ही मनुष्यों के लिए परम शुभ मानना चाहिए। वर्णाश्रम प्रणाली इस पृथ्वी पर धार्मिकता की सर्वाधिक वैज्ञानिक प्रस्तुति करती है और जो लोग इस प्रणाली में सिद्धहस्त होते हैं, वे कृष्णभावनामृत को प्राप्त होते हैं अर्थात् हर वस्तु परमेश्वर की तुष्टि के लिए समर्पित करते हैं।

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः ।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात्कृतयुगं विदुः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

आदौ—(कल्प के) प्रारम्भ में; कृत-युगे—सत्ययुग में; वर्णः—सामाजिक श्रेणी; नृणाम्—मनुष्यों की; हंसः—हंस नामक; इति—इस प्रकार; स्मृतः—विख्यात; कृत-कृत्याः—परमेश्वर की पूर्ण शरणागति द्वारा कर्तव्यों के पालन में दक्ष; प्रजाः—जनता; जात्या—जन्म से; तस्मात्—इसलिए; कृत-युगम्—कृतयुग में अथवा ऐसे युग में जिसमें सारे कर्तव्य पूरे होते हैं; विदुः—विद्वान लोग जानते थे।

प्रारम्भ में सत्ययुग में केवल एक सामाजिक श्रेणी थी जिसे हंस कहते थे जिससे सारे मनुष्य सम्बद्ध होते थे। उस युग में सारे लोग जन्म से शुद्ध भगवद्भक्त होते थे, इसलिए विद्वान लोग इस प्रथम युग को कृत-युग कहते हैं अर्थात् ऐसा युग जिसमें सारे धार्मिक कार्य अच्छी तरह पूरे होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से पता चलता है कि भगवान् की शरण में जाना ही परम धर्म है। सत्ययुग में प्रकृति के निम्न गुणों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिए सारे मनुष्य उच्च आश्रम से, जिसे हंस कहते हैं, सम्बन्धित होते हैं, जिसमें मनुष्य भगवान् के सीधे संरक्षण में रहता है। वर्तमान युग में लोग सामाजिक समता के लिए चिल्लाते हैं, किन्तु जब तक लोग सतोगुण को प्राप्त नहीं करते, जो शुद्धता और अनन्य भक्ति की स्थिति है, तब तक सामाजिक समता सम्भव नहीं है। जैसे जैसे निम्न गुणों का प्राधान्य होता जाता है, त्यों त्यों गौण धार्मिक नियमों का उदय होता है, जिससे लोग धीरे धीरे ईश्वर की पूर्ण शरणागति की शुद्ध अवस्था को प्राप्त होते जाते हैं। सत्ययुग में निकृष्ट व्यक्ति नहीं पाये जाते इसलिए गौण धार्मिक नियमों की आवश्यकता नहीं रहती। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से भगवान् की शुद्ध भक्ति करता है और इस तरह सारे धार्मिक कर्तव्यों को पूरा करता है। जो व्यक्ति सारे कर्तव्यों को ठीक से पूरा करता है, वह कृतकृत्य कहलाता है, जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है। इसीलिए सत्ययुग कृत-युग कहलाता है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार आदौ शब्द ब्रह्माण्ड की सृष्टि के क्षण का सूचक है। दूसरे शब्दों में, वर्णाश्रम प्रणाली कोई अर्वाचीन कल्पना नहीं है अपितु सृष्टि के साथ यह स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है; इसलिए सभी बुद्धिमान व्यक्तियों को चाहिए कि इसे मान लें।

वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक् ।

उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

वेदः—वेद; प्रणवः—ओऊम नामक पवित्र अक्षर; एव—निस्सन्देह; अग्रे—सत्ययुग में; धर्मः—मानसिक कार्यों का लक्ष्य; अहम्—मैं; वृष-रूप-धृक्—धर्म रूप बैल का रूप धारण करके; उपासते—वे पूजा करते हैं; तपः-निष्ठाः—तप में रत; हंसम्—भगवान् हंस; माम्—मुझको; मुक्त—रहित; किल्बिषाः—सारे पापों से।

सत्ययुग में अविभाज्य वेद ओऊम् अक्षर (ऊंकार) द्वारा व्यक्त किया जाता है और मैं ही एकमात्र मानसिक कार्यों का लक्ष्य (धर्म) हूँ। मैं चार पैरों वाले धर्म रूपी बैल के रूप में प्रकट होता हूँ जिससे सत्ययुग के निवासी, तपस्यानिष्ठ तथा पापरहित होकर, भगवान् हंस के रूप में मेरी पूजा करते हैं।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत (१.१७.२४) में धर्मरूपी बैल का वर्णन हुआ है—तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृताः—सत्ययुग में, आपके चार पाँव तपस्या, स्वच्छता, दया तथा सत्य के चार सिद्धान्तों द्वारा स्थापित हुए थे। श्री व्यासदेव ने द्वापर के अन्त में एक वेद को चार में—ऋग, यजुः,

साम तथा अथर्ववेद—में विभाजित कर दिया किन्तु सत्ययुग में सारा वैदिक ज्ञान केवल ॐकार द्वारा ही समझा जा सकता है। इस युग में यज्ञ जैसा कोई अनुष्ठान कार्य नहीं होता क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति निष्पाप, तपस्वी तथा भगवान् हंस के ध्यान में मग्न रहता है।

त्रेतामुखे महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी ।

विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

त्रेता-मुखे—त्रेता युग के प्रारम्भ में; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; प्राणात्—प्राण के स्थान से; मे—मेरे; हृदयात्—हृदय से; त्रयी—तीन; विद्या—वैदिक ज्ञान; प्रादुरभूत्—प्रकट हुआ; तस्याः—उस ज्ञान से; अहम्—मैं; आसम्—प्रकट हुआ; त्रि-वृत्—तीन विभागों में; मखः—यज्ञ।

हे परम भाग्यशाली, त्रेता युग के प्रारम्भ में, प्राण के स्थान से, जो कि मेरा हृदय है, वैदिक ज्ञान तीन विभागों में प्रकट हुआ—ये हैं—ऋग, साम तथा यजुः। तत्पश्चात् उस ज्ञान से मैं तीन यज्ञों के रूप में प्रकट हुआ।

तात्पर्य : त्रेता युग में धर्मरूपी बैल का एक पाँव नष्ट हो जाता है और धर्म का पचहत्तर प्रतिशत ही तीन वेदों—ऋग, साम तथा यजुः वेदों के रूप में प्रकट होता है। तब भगवान् तीन वैदिक यज्ञों की विधि में प्रकट होते हैं। ये तीन विभाग इस प्रकार हैं। *होता* अग्नि में आहुति डालता है और ऋग्वेद का उच्चारण करता है, *उद्गाता* सामवेद का उच्चारण करता है और *अध्वर्यु*, जो कि यज्ञशाला की तैयारी करता है, वह यजुर्वेद का उच्चारण करता है। त्रेता युग में ऐसा यज्ञ ही आध्यात्मिक सिद्धि की प्रामाणिक विधि है। इस श्लोक में *प्राणात्* शब्द भगवान् के विश्व-रूप का द्योतक है। इस रूप का अधिक वर्णन अगले श्लोकों में हुआ है।

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः ।

वैराजात्पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

विप्र—ब्राह्मण; क्षत्रिय—क्षत्रिय; विट्—वैश्य; शूद्राः—शूद्र, मजदूर; मुख—मुँह; बाहु—भुजाओं; ऊरु—जाँघों; पाद—तथा पाँवों से; जाः—उत्पन्न; वैराजात्—विराट रूप से; पुरुषात्—भगवान् से; जाताः—उत्पन्न; ये—जो; आत्म—निजी; आचार—कार्यकलाप द्वारा; लक्षणाः—पहचाने जाते हैं।

त्रेता युग में भगवान् के विराट रूप से चार जातियाँ प्रकट हुईं। ब्राह्मण भगवान् के मुँह से, क्षत्रिय भगवान् की बाँहों से, वैश्य भगवान् के जंघों से तथा शूद्र उस विराट रूप के पाँवों से

प्रकट हुए। प्रत्येक विभाग को उसके विशिष्ट कर्तव्यों तथा आचार-व्यवहारसे पहचाना गया।

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम ।

वक्षःस्थलाद्गनेवासः सन्यासः शिरसि स्थितः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

गृह-आश्रमः—विवाहित जीवन; जघनतः—जाँघों से; ब्रह्मचर्यम्—विद्यार्थी जीवन; हृदः—हृदय से; मम—मेरे; वक्षः-स्थलात्—वक्षस्थल से; वने—जंगल में; वासः—निवास करते हुए; सन्यासः—सन्यास आश्रम; शिरसि—सिर पर; स्थितः—स्थित।

विवाहित जीवन मेरे विश्व रूप के जघन प्रदेश से प्रकट हुआ और ब्रह्मचारी विद्यार्थी मेरे हृदय से निकले। जंगल में निवास करने वाला विरक्त जीवन मेरे वक्षस्थल से प्रकट हुआ तथा संन्यास मेरे विश्व रूप के सिर के भीतर स्थित था।

तात्पर्य : ब्रह्मचारी जीवन की दो श्रेणियाँ हैं। नैष्ठिकि ब्रह्मचारी—आजीवन ब्रह्मचारी रहता है, जबकि उपकुर्वाण ब्रह्मचारी विद्यार्थी जीवन समाप्त करके विवाह कर लेता है। जो आजीवन ब्रह्मचारी रहता है, वह भगवान् कृष्ण के हृदय में वास करता है, किन्तु जो अन्ततः विवाह कर लेते हैं, वे भगवान् के विराट रूप के जघन प्रदेश में स्थित होते हैं। वने-वासः द्योतक है वानप्रस्थ का जो भगवान् के वक्षस्थल में स्थित है।

वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः ।

आसन्नप्रकृतयो नृनां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

वर्णानाम्—वृत्तिपरक विभागों में; आश्रमाणाम्—सामाजिक विभागों में; च—भी; जन्म—जन्म; भूमि—स्थान के; अनुसारिणीः—के अनुसार; आसन्—प्रकट हुए; प्रकृतयः—प्रकृतियाँ; नृणाम्—मनुष्यों में; नीचैः—निम्न पृष्ठभूमि द्वारा; नीच—नीच प्रकृति; उत्तम—श्रेष्ठ पृष्ठभूमि द्वारा; उत्तमाः—उत्तम प्रकृतियाँ।

प्रत्येक व्यक्ति के जन्म के समय की निम्न तथा उच्च प्रकृतियों के अनुसार मानव समाज के विविध वृत्तिपरक (वर्ण) तथा सामाजिक (आश्रम) विभाग प्रकट हुए।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार ब्राह्मण तथा संन्यासी भगवान् के विराट रूप के सिर पर स्थित होने से अत्यन्त योग्य माने जाते हैं जबकि शूद्र तथा गृहस्थ भगवान् के पाँवों या जाँघों में होने से निम्न पद पर माने जाते हैं। जीव एक निश्चित बुद्धि, सौन्दर्य तथा सामाजिक परिवेश के साथ उत्पन्न होता है, इसलिए वह वर्णाश्रम प्रणाली में किसी एक वृत्तिपरक तथा सामाजिक पद में स्थित

होता है। वैसे ऐसे पद बाह्य उपाधि हैं किन्तु क्योंकि अधिकांश व्यक्ति भगवान् की माया द्वारा बद्ध होते हैं इसलिए उन्हें तब तक वैज्ञानिक वर्णाश्रम विभागों के अनुसार कर्म करना चाहिए जब तक वे जीव-मुक्त अवस्था को प्राप्त नहीं कर लेते।

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

शमः—शान्ति; दमः—इन्द्रिय-संयम; तपः—तपस्या; शौचम्—शुद्धि; सन्तोषः—पूर्ण सन्तुष्टि; क्षान्तिः—क्षमाशीलता; आर्जवम्—सादगी, सीधापन; मत्-भक्तिः—मेरी भक्ति; च—भी; दया—दया; सत्यम्—सत्य; ब्रह्म—ब्राह्मणों के; प्रकृतयः—स्वाभाविक गुण; तु—निस्सन्देह; इमाः—ये।

शान्ति, आत्मसंयम, तपस्या, शुद्धि, सन्तोष, सहनशीलता, सहज स्पष्टवादिता, मेरी भक्ति, दया तथा सत्य—ये ब्राह्मणों के स्वाभाविक गुण हैं।

तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः ।
स्थैर्यं ब्रह्मन्यमैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तेजः—तेज; बलम्—शारीरिक बल; धृतिः—संकल्प; शौर्यम्—शूरवीरता; तितिक्षा—सहिष्णुता; औदार्यम्—उदारता; उद्यमः—प्रयत्न; स्थैर्यम्—स्थिरता; ब्रह्मण्यम्—ब्राह्मणों की सेवा के लिए सदैव तत्पर; ऐश्वर्यम्—नायकत्व; क्षत्र—क्षत्रियों के; प्रकृतयः—स्वाभाविक गुण; तु—निस्सन्देह; इमाः—ये।

तेजस्विता, शारीरिक बल, संकल्प, बहादुरी, सहनशीलता, उदारता, महान् प्रयास, स्थिरता, ब्राह्मणों के प्रति भक्ति तथा नायकत्व—ये क्षत्रियों के स्वाभाविक गुण हैं।

आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम् ।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

आस्तिक्यम्—वैदिक सभ्यता में विश्वास; दान-निष्ठा—दानशीलता; च—भी; अदम्भः—दिखावटीपन का अभाव; ब्रह्म-सेवनम्—ब्राह्मणों की सेवा; अतुष्टिः—असंतुष्ट रहने का भाव; अर्थ—धन का; उपचयैः—संग्रह द्वारा; वैश्य—वैश्य के; प्रकृतयः—स्वाभाविक गुण; तु—निस्सन्देह; इमाः—ये।

वैदिक सभ्यता में विश्वास, दानशीलता, दिखावे से दूर रहना, ब्राह्मणों की सेवा करना तथा अधिकाधिक धन संचय की निरन्तर आकांक्षा—ये वैश्यों के प्राकृतिक गुण हैं।

तात्पर्य : अतुष्टिरर्थोपचयै सूचित करता है कि वैश्य कभी भी तुष्ट नहीं होता चाहे वह कितना भी धन संचय क्यों न कर ले। वह अधिकाधिक संचय करना चाहता है। दूसरी ओर, वह दान-निष्ठ होता

है अर्थात् दान-पुण्य करता रहता है। वह ब्रह्मसेवी अर्थात् ब्राह्मणों की सहायता करने में सदैव लगा रहता है। वह अदम्भ होता है अर्थात् दिखावे से दूर रहता है। यह सब आस्तिक्यम् अर्थात् वैदिक जीवन-शैली में इस पूर्ण निष्ठा तथा विश्वास के कारण है कि वह अपने वर्तमान कार्यों के अनुसार ही अगले जीवन में दण्डित या पुरस्कृत होगा। वैश्यों में धन संचय की तीव्र इच्छा सामान्य लालच जैसी नहीं होती, क्योंकि इस श्लोक में वर्णित उच्च गुणों के द्वारा वह विमल तथा अनुकूलित होती है।

शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया ।

तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

शुश्रूषणम्—सेवा; द्विज—ब्राह्मणों की; गवाम्—गौवों की; देवानाम्—देवताओं तथा गुरु जैसे पूज्य पुरुषों की; च—भी; अपि—निस्सन्देह; अमायया—निष्कपट; तत्र—उस सेवा में; लब्धेन—प्राप्त हुए के द्वारा; सन्तोषः—पूर्ण तुष्टि; शूद्र—शूद्रों के; प्रकृतयः—स्वाभाविक गुण; तु—निस्सन्देह; इमाः—ये।

ब्राह्मणों, गौवों, देवताओं तथा अन्य पूज्य पुरुषों की निष्कपट सेवा तथा ऐसी सेवा करने से जो भी आमदनी हो जाय उससे पूर्ण तुष्टि—ये शूद्रों के स्वाभाविक गुण हैं।

तात्पर्य : जब सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था वैदिक आदेशों के अनुसार समुचित ढंग से कार्य करती है, तो हर व्यक्ति सुखी तथा संतुष्ट रहता है। यद्यपि शूद्रों को सेवा-कार्य करने से जो भी आमदनी होती है, उसी से सन्तुष्ट रहना पड़ता है, किन्तु उन्हें किसी भी आवश्यक वस्तु का अभाव नहीं खटकता, क्योंकि समाज के अन्य वर्ण—यथा क्षत्रिय तथा वैश्य—नितान्त उदार होते हैं और ब्राह्मण तो सर्वाधिक दयालु होते हैं। इसलिए यदि सारी सामाजिक श्रेणियाँ (वर्ण) वैदिक आदेशों का पालन करें, तो कृष्णभावनामृत के मार्गदर्शन में सम्पूर्ण मानव समाज को नवीन तथा आनन्दमय जीवन प्राप्त हो सकेगा।

अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः ।

कामः क्रोधश्च तर्षश्च स भावोऽन्त्यावसायिनाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अशौचम्—गंदा रहना; अनृतम्—बेईमानी; स्तेयम्—चोरी; नास्तिक्यम्—नास्तिकता; शुष्क-विग्रहः—व्यर्थ का लड़ाई-झगड़ा; कामः—विषय-भोग, वासना; क्रोधः—क्रोध; च—भी; तर्षः—लालसा; च—भी; सः—यह; भावः—स्वभाव, प्रकृति; अन्त्य—निम्नतम पद में; अवसायिनाम्—रहने वालों के।

अस्वच्छता, बेईमानी, चोरी करना, नास्तिकता, व्यर्थ झगड़ना, काम, क्रोध एवं तृष्णा—ये

उनके स्वभाव हैं, जो वर्णाश्रम प्रणाली के बाहर निम्नतम पद पर हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् ने वैज्ञानिक वर्णाश्रम प्रणाली से बाहर रहने वालों का वर्णन किया है। यूरोप तथा अमरीका में हमने प्रायः देखा है कि सफाई का मानदण्ड तथाकथित शिक्षित जनों में भी अत्यन्त गह्रित है। बिना स्नान किये रहते जाना और अशिष्ट भाषा का प्रयोग आम बातें हैं। आधुनिक युग में लोग अपने से बड़े का ध्यान न रखते हुए अंटशंट बकते रहते हैं, इसलिए उनमें रंचमात्र भी सचाई या असली ज्ञान नहीं रहता। इसी तरह पूँजीवादी तथा साम्यवादी दोनों ही तरह के देशों में, हर व्यक्ति व्यापार, कर या अपराध के नाम पर अन्यों को लूटने-खसोटने में लगा हुआ है। लोगों को न तो ईश्वर के साम्राज्य (भगवद्धाम) में विश्वास है, न ही अपनी नित्य प्रकृति पर है। फलस्वरूप उनकी श्रद्धा नितान्त क्षीण है। यही नहीं, चूँकि आधुनिक लोग कृष्णभावनामृत में अधिक रुचि नहीं रखते, इसलिए वे भौतिक शरीर से सम्बन्धित व्यर्थ के मामलों में झगड़ते रहते हैं। थोड़ा भी भड़काने पर बड़े बड़े युद्ध तथा हत्याकांड हो जाते हैं। कलियुग में काम, क्रोध तथा तृष्णा की कोई सीमा नहीं रह गई है। यहाँ पर उल्लिखित लक्षणों तथा विशेषताओं को पूरे विश्व में जहाँ पर लोग वर्णाश्रम प्रणाली से च्युत हैं, प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है। अपनी पापमयी आदतों के कारण—यथा पशु-हत्या, अवैध यौन, नशा तथा जुआ खेलने के कारण—अधिकांश लोग *चण्डाल* या अस्पृश्य बन गये हैं।

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता ।

भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अहिंसा—अहिंसा; सत्यम्—सत्य; अस्तेयम्—ईमानदारी; अ-काम-क्रोध-लोभता—काम, क्रोध तथा लोभ से रहित होना; भूत—सारे जीवों के; प्रिय—सुख; हित—तथा कल्याण; ईहा—कामना; च—भी; धर्मः—कर्तव्य; अयम्—यह; सार्व-वर्णिकः—समाज के सारे सदस्यों के लिए।

अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, अन्यों के लिए सुख तथा कल्याण की इच्छा एवं काम, क्रोध तथा लोभ से मुक्ति—ये समाज के सभी सदस्यों के कर्तव्य हैं।

तात्पर्य : *सार्व-वर्णिक* शब्द यह बतलाता है कि उपर्युक्त सिद्धान्तों से सामान्य शुद्धता बनती है, जिसे समाज के सारे सदस्यों को, यहाँ तक कि वर्णाश्रम प्रणाली के बाहर रहने वालों को भी, अपनाना चाहिए। हम देखते हैं कि वर्णाश्रम प्रणाली से अलग-थलग समाजों में भी, उपर्युक्त सिद्धान्तों का आदर किया जाता है और उन्हें प्रोत्साहन मिलता है। ऐसे सिद्धान्त किसी विशिष्ट मुक्ति-मार्ग को बनाने वाले

नहीं अपितु मानव समाज के शाश्वत गुण हैं।

द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः ।

वसनगुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहूतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

द्वितीयम्—दूसरा; प्राप्य—पाकर; आनुपूर्व्यात्—क्रमिक संस्कार-विधि से; जन्म—जन्म; उपनयनम्—गायत्री दीक्षा; द्विजः—समाज का द्विजन्मा सदस्य; वसन्—वास करते हुए; गुरु-कुले—गुरु के आश्रम में; दान्तः—आत्म-नियंत्रित; ब्रह्म—वैदिक वाङ्मय; अधीयीत—अध्ययन करे; च—तथा समझे भी; आहूतः—तथा गुरु द्वारा बुलाये जाने पर।

समाज का द्विजन्मा सदस्य संस्कारों के द्वारा गायत्री दीक्षा होने पर दूसरा जन्म प्राप्त करता है। गुरु द्वारा बुलाये जाने पर उसे गुरु के आश्रम में रहना चाहिए और आत्मनियंत्रित मन से सावधानी से वैदिक साहित्य का अध्ययन करना चाहिए।

तात्पर्य : द्विज शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन उत्तम श्रेणियों का सूचक है, जिन्हें गायत्री मंत्र की दीक्षा दी जाती है। इसका अर्थ है आध्यात्मिक दीक्षा द्वारा दूसरा जन्म लेना। मनुष्य का पहला जन्म वीर्य से होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह बुद्धिमान या प्रबुद्ध होगा। ब्राह्मण बालक, यदि योग्य हो, तो बारह वर्ष की उम्र में गायत्री मंत्र से दीक्षित किया जा सकता है किन्तु क्षत्रियों तथा वैश्यों के बालक कुछ वर्षों बाद दीक्षित किये जा सकते हैं। आध्यात्मिक ज्ञान से प्रबुद्ध होने के लिए बालक गुरुकुल में या गुरु के आश्रम में जाकर रहता है। कृष्णभावनामृत के अन्तर्राष्ट्रीय संघ ने विश्व-भर में ऐसे गुरुकुलों की स्थापना की है और वह समस्त सभ्य व्यक्तियों को आह्वान कर रहा है कि वे अपने बालकों की उचित शिक्षा के लिए प्रबन्ध करें। प्रत्येक बालक तथा बालिका को आत्मनियंत्रित बनना सीखना चाहिए और प्रामाणिक वैदिक साहित्य के अध्ययन द्वारा प्रबुद्ध बनना चाहिए। इस तरह पशुओं, कीड़ों, मछलियों तथा पक्षियों से भिन्न होकर प्रबुद्ध व्यक्ति दुबारा जन्म ले सकता है और ज्ञान में पूर्ण बन सकता है, जिससे उसे चरम मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इस श्लोक में *आनुपूर्व्यात्* संस्कारों का सूचक है, जिसकी शुरुआत गर्भाधान संस्कार से होती है। सामान्यतया शूद्र तथा वैदिक प्रणाली को न मानने वाले लोग ऐसे संस्कारों के प्रति आकृष्ट नहीं होते। इसलिए वे आध्यात्मिक जीवन से अनजान रह जाते हैं और प्रामाणिक गुरु से ईर्ष्या-द्वेष रखते हैं। किन्तु जिनका चरित्र क्रमबद्ध परिष्कार विधि से सभ्य बन जाता है, वे तर्क करना तथा मनमानी करना छोड़ देते हैं और गुरु की उपस्थिति में विनीत बन कर शिक्षा ग्रहण करने के लिए इच्छुक रहते हैं।

मेखलाजिनदण्डाक्षब्रह्मसूत्रकमण्डलून् ।

जटिलोऽधौतदद्वासोऽरक्तपीठः कुशान्दधत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

मेखला—पेटी; अजिन—मृगचर्म; दण्ड—डंडा; अक्ष—गुरियों की माला; ब्रह्म-सूत्र—ब्राह्मण का जनेऊ; कमण्डलून्—तथा कमण्डल या जलपात्र; जटिलः—जटा; अधौत—बिना पालिश किया या सफेद किया या इस्त्री किया; दत्-वासः—दाँत तथा वस्त्र; अरक्त-पीठः—विलासमय या विषयी आसन स्वीकार किये बिना; कुशान्—कुश तृण; दधत्—हाथ में लिए हुए ।

ब्रह्मचारी को नियमित रूप से मूँज की पेटी तथा मृगचर्म के वस्त्र धारण करने चाहिए। उसे जटा रखनी चाहिए और डंड तथा कमंडल धारण करना चाहिए। उसे अक्ष के मनके तथा जनेऊ धारण करना चाहिए। अपने हाथ में शुद्ध कुश लिए हुए, उसे कभी भी कोई विलासपूर्ण या उत्तेजक आसन ग्रहण नहीं करना चाहिए। उसे व्यर्थ दाँत नहीं चमकाना चाहिए न ही अपने वस्त्रों से रंग उड़ाना या उन पर लोहा (इस्त्री) करना चाहिए।

तात्पर्य : अधौत-दद्-वास शब्द सूचित करते हैं कि विरक्त ब्रह्मचारी को न तो स्त्रियों को आकृष्ट करने के लिए मृदु मुसकान लानी चाहिए, न ही उसे अपने बाह्य वस्त्रों पर अधिक ध्यान देना चाहिए। ब्रह्मचारी जीवन तपस्या तथा गुरु-आज्ञापालन के लिए है, जिससे बाद में जब वह व्यापारी, राजनीतिज्ञ या बुद्धिजीवी ब्राह्मण बने तो चरित्र, अनुशासन, आत्मसंयम, तपस्या तथा नम्रता धारण कर सके। विद्यार्थी जीवन जैसा यहाँ वर्णित है, आधुनिक शिक्षा के नाम से जाने वाले मस्तिष्क विहीन आनन्दवाद से भिन्न है। निस्सन्देह, आधुनिक युग में कृष्णभावनाभावित ब्रह्मचारी बनावटी तौर पर प्राचीन वेशभूषा नहीं धारण कर सकता और न ही यहाँ पर वर्णित संस्कारों को ग्रहण कर सकता है। किन्तु आत्मसंयम, शुद्धि तथा गुरु की आज्ञापालन की आज भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि वैदिक काल में थी।

स्नानभोजनहोमेषु जपोच्चारं च वाग्यतः ।

न च्छिन्द्यान्नखरोमाणि कक्षोपस्थगतान्यपि ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

स्नान—स्नान करते; भोजन—भोजन करते; होमेषु—तथा यज्ञ करते; जप—मन में मंत्रों का जाप करते; उच्चारं—मल-मूत्र विसर्जन करते समय; च—भी; वाक्-यतः—मौन रह कर; न—नहीं; छिन्द्यात्—काटे; नख—नाखुन; रोमाणि—अथवा बाल; कक्ष—बगल (काँख) के; उपस्थ—गुप्तांग; गतानि—के सहित; अपि—भी ।

ब्रह्मचारी को चाहिए कि स्नान करते, खाते, यज्ञ करते, जप करते या मल-मूत्र विसर्जन करते समय, सदैव मौन रहे। वह अपने नाखुन तथा काँख एवं गुप्तांग सहित किसी अंग के बाल

नहीं काटे।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के सातवें स्कंध के बारहवें अध्याय में नारद मुनि ने वैदिक ब्रह्मचारी का ऐसा ही पारिभाषिक विवरण दिया है।

रेतो नावकिरेज्जातु ब्रह्मव्रतधरः स्वयम् ।

अवकीर्णोऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदां जपेत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

रेतः—वीर्य; न—नहीं; अवकिरेत्—पतन करे; जातु—कभी; ब्रह्म-व्रत-धरः—ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने वाला, ब्रह्मचारी; स्वयम्—स्वयं; अवकीर्ण—पतन हो जाने पर; अवगाह्य—स्नान करके; अप्सु—जल में; यत-असुः—प्राणायाम द्वारा श्वास रोक कर; त्रि-पदाम्—गायत्री मंत्र का; जपेत्—जप करे।

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए वह कभी वीर्यपात न करे। यदि संयोगवश वीर्य स्वतः निकल जाय, तो ब्रह्मचारी तुरन्त जल में स्नान करे, प्राणायाम द्वारा अपना श्वास रोके और गायत्री मंत्र का जप करे।

अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्धसुराञ्शुचिः ।

समाहित उपासीत सन्ध्ये द्वे यतवाग्जपन् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अग्नि—अग्निदेव; अर्क—सूर्य; आचार्य—आचार्य; गो—गाय; विप्र—ब्राह्मण; गुरु—गुरु; वृद्ध—सम्माननीय गुरुजन; सुरान्—देवताओं को; शुचिः—पवित्र; समाहितः—स्थिर चेतना से; उपासीत—पूजा करे; सन्ध्ये—संध्या-समय; द्वे—दो; यत-वाक्—मौन रखते हुए; जपन्—मौन होकर जपने या उचित मंत्र का उच्चारण।

ब्रह्मचारी को शुद्ध होकर तथा स्थिर चेतना से अग्नि, सूर्य, आचार्य, गायों, ब्राह्मणों, गुरु, गुरुजनों तथा देवताओं की पूजा करनी चाहिए। उसे सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय मौन होकर उपयुक्त मंत्रों का गुणगुनाते हुए उच्चारण करके ऐसी पूजा करनी चाहिए।

आचार्य मां विजानीयान्नवमन्येत कर्हिचित् ।

न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

आचार्यम्—गुरु; माम्—मुझको; विजानीयात्—जाने; न अवमन्येत—कभी अनादर न करे; कर्हिचित्—किसी समय; न—कभी नहीं; मर्त्य-बुद्ध्या—सामान्य पुरुष होने के विचार से; असूयेत—ईर्ष्या-द्वेष रखे; सर्व-देव—सभी देवताओं के; मयः—प्रतिनिधि; गुरुः—गुरु।

मनुष्य को चाहिए कि आचार्य को मेरा ही स्वरूप जाने और किसी भी प्रकार से उसका अनादर नहीं करे। उसे सामान्य पुरुष समझते हुए उससे ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखे क्योंकि वह समस्त

देवताओं का प्रतिनिधि है।

तात्पर्य : यह श्लोक *चैतन्य-चरितामृत* (आदि १.४६) में आया है। श्री श्रीमद् स्वामी प्रभुपाद ने इसकी टीका इस प्रकार की है।

यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* से (११.१७.२७) लिया गया है। इसे भगवान् श्रीकृष्ण ने तब कहा था जब उद्धव ने उनसे सामाजिक तथा आध्यात्मिक वर्णाश्रम प्रणाली के विषय में प्रश्न किया था। वे यह विशेष शिक्षा दे रहे थे कि ब्रह्मचारी को गुरु के संरक्षण में किस तरह व्यवहार करना चाहिए। गुरु अपने शिष्यों द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का भोक्ता नहीं होता। वह तो माता-पिता के तुल्य होता है। कोई भी बालक अपने माता-पिता की सतर्क सेवा के बिना बढ़कर मनुष्य नहीं बन सकता। इसी प्रकार गुरु की देखरेख के बिना कोई व्यक्ति सेवापद को प्राप्त नहीं कर सकता।

गुरु को *आचार्य* भी कहा जाता है। *मनुसंहिता* (२.१४०) में आचार्य के कर्तव्य बताये गये हैं। उसमें बताया गया है कि गुरु शिष्यों का दायित्व अपने ऊपर लेता है, उन्हें वैदिक ज्ञान की जटिलताओं समेत शिक्षा देता है और उनको द्विज बनाता है। आध्यात्मिक विज्ञान के अध्ययन के लिए दीक्षित करने का उत्सव *उपनीति* अर्थात् गुरु के निकटतर लाने का अनुष्ठान कहलाता है। जिसे गुरु के निकट नहीं लाया जा सकता, वह जनेऊ नहीं पहन सकता। इस तरह उसे शूद्र कहा जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य द्वारा पहना जाने वाला जनेऊ गुरु-दीक्षा का प्रतीक है। यदि इससे कुलीनता की शेखी बघारना हो तो इसका पहनना व्यर्थ है। गुरु का कर्तव्य है कि शिष्य का जनेऊ-संस्कार करे और इस संस्कार के बाद ही गुरु अपने शिष्य को वेद पढ़ाना आरम्भ करता है। शूद्र के रूप में जन्मे व्यक्ति को ऐसी दीक्षा से रोका नहीं जाता बशर्ते कि गुरु की अनुमति प्राप्त हो क्योंकि उसे ही शिष्य को ब्राह्मण बनाने का उचित अधिकार प्राप्त है यदि वह उसे पूर्णतया योग्य समझे। *वायुपुराण* में आचार्य की परिभाषा उस व्यक्ति के रूप में की गई है, जो समस्त वैदिक वाङ्मय के सार को समझता है, वेदों के उद्देश्य को बताता है, उनके विधि-विधानों को मानता है और अपने शिष्यों को उसी प्रकार से कर्म करने की शिक्षा देता है।

“महती दयावश ही भगवान् गुरु-रूप में अपने को प्रकट करते हैं। इसलिए आचार्य के बर्ताव में भगवान् की दिव्य सेवा के अतिरिक्त और कोई कार्यकलाप नहीं होता। वे सेवा के परम स्वामी हैं। ऐसे

स्थिर भक्त की शरण ग्रहण करना उचित है क्योंकि वह *आश्रय विग्रह* कहलाता है। “यदि कोई अपने को आचार्य कहता है किन्तु उसमें ईश्वर की सेवकाई की प्रवृत्ति नहीं होती, तो उसे अपराधी समझना चाहिए और उसकी यह अपराधी मनोवृत्ति उसे आचार्य बनने के अयोग्य ठहराती है। प्रामाणिक गुरु सदैव भगवान् की शुद्ध भक्ति में लगा रहता है। इस परीक्षा से वह भगवान् का प्रत्यक्ष स्वरूप तथा श्री नित्यानन्द प्रभु का वास्तविक प्रतिनिधि कहलाता है। ऐसा दिव्य गुरु आचार्य देव माना जाता है। ईर्ष्यालु स्वभाव होने तथा इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्ति से असंतुष्ट होने से संसारी जन असली आचार्य की आलोचना करते हैं। किन्तु वस्तुतः प्रामाणिक आचार्य भगवान् से अभिन्न होता है, अतएव ऐसे आचार्य से ईर्ष्या करने का अर्थ है स्वयं भगवान् से ईर्ष्या करना। इससे आध्यात्मिक साक्षात्कार का विरोधी प्रभाव जन्म लेगा “जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि शिष्य को चाहिए कि गुरु को श्रीकृष्ण का स्वरूप माने किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि गुरु को भगवान् की दिव्य लीलाओं का अनुकरण करने का कोई अधिकार नहीं है। बनावटी गुरु अपने शिष्यों की भावनाओं का बेजा लाभ उठाने के लिए अपने आपको हर तरह से श्रीकृष्ण से अभिन्न बतलाते हैं किन्तु ऐसे निर्विशेषवादी अपने शिष्यों को केवल पथविचलित ही करते हैं क्योंकि उनका परम उद्देश्य भगवान् से तादात्म्य है। यह भक्ति सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के विपरीत है।

“असली वैदिक दर्शन तो *अचिन्त्य भेदाभेद* है, जो हर वस्तु को एक ही समय भगवान् से एक और भिन्न बतलाता है। श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी इसकी पुष्टि करते हैं कि प्रामाणिक गुरु का यही पद है और वे यह कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि अपने गुरु को मुकुन्द (श्रीकृष्ण) से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले के रूप में देखे। श्रील जीव गोस्वामी ने *भक्ति सन्दर्भ* (२१३) में यह स्पष्ट परिभाषा दी है कि गुरु तथा शिवजी को भगवान् का स्वरूप मानने का अर्थ है भगवान् को प्रिय होना, न कि उनसे अभिन्न होना है। श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी तथा श्रील जीव गोस्वामी के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए परवर्ती आचार्यों ने, यथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने, इसी सत्य की पुष्टि की है। गुरु की स्तुति करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने पुष्टि की है कि सारे शास्त्र गुरु को भगवान् से इसीलिए अभिन्न मानते हैं क्योंकि वह भगवान् को अत्यन्त प्रिय होता है और वह भगवान् का विश्वस्त सेवक होता है। इसीलिए गौड़ीय वैष्णव श्रील गुरुदेव की पूजा भगवान् के सेवक के रूप में करते हैं।

समस्त प्राचीन भक्ति साहित्य में तथा श्रील नरोत्तमदास ठाकुर, श्रील भक्तिविनोद ठाकुर तथा अन्य अनन्य वैष्णवों के अर्वाचीन गीतों में, गुरु को या तो श्रीमती राधारानी के विश्वस्त संगी के रूप में या श्रील नित्यानन्द प्रभु का स्वरूप माना जाता है।”

सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत् ।

यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सायम्—शाम को; प्रातः—सुबह के समय; उपानीय—लाकर; भैक्ष्यम्—भिक्षा; तस्मै—उस (आचार्य) को; निवेदयेत्—लाकर दे; यत्—जो कुछ; च—भी; अन्यत्—अन्य वस्तुएँ; अपि—निस्सन्देह; अनुज्ञातम्—अनुमति मिले; उपयुञ्जीत—स्वीकार करे; संयतः—पूर्ण रूप से संयमित।

वह प्रातः तथा सायंकाल भोजन तथा अन्य वस्तुएँ एकत्र करके गुरु को प्रदान करे। तब आत्मसंयमपूर्वक वह अपने लिए उतना ही स्वीकार करे जो आचार्य उसके लिए निर्दिष्ट कर दे।

तात्पर्य : जो व्यक्ति गुरु की कृपा प्राप्त करने का इच्छुक हो, उसे विषय-भोग की वस्तुएँ संग्रह करने के लिए उत्सुक नहीं होना चाहिए। प्रत्युत वह जो कुछ माँग कर लाए उसे आचार्य के चरणकमलों पर अर्पित कर दे। आत्मसंयम दिखाते हुए वह नम्रतापूर्वक उतना ही स्वीकार करे, जो गुरु द्वारा उसके लिए निर्धारित कर दिया जाय। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् की सेवा करने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए किन्तु जब तक वह व्यक्ति आध्यात्मिक सेवा की विधियों में दक्ष न हो जाय उसे चाहिए कि वह हर वस्तु अपने गुरु को लाकर दे जो भगवत्पूजा की विधि को भलीभाँति जानता रहता है। जब गुरु देखता है कि शिष्य कृष्णभावनामृत में अग्रसर हो चुका है, तो वह शिष्य को भगवान् की प्रत्यक्ष पूजा करने में लगा देता है। प्रामाणिक गुरु किसी भी वस्तु का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति हेतु नहीं करता और अपने शिष्य को उतना ही भौतिक ऐश्वर्य सौंपता है जितने को वह भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित कर सके। उदाहरणस्वरूप, जब कोई पिता अपने पुत्र को व्यापार तथा अन्य किसी भौतिक कार्य में प्रशिक्षित करना चाहता है, तो वह अपने पुत्र के हाथों में उतनी ही सम्पत्ति सौंपता है जितने को वह अपने पिता की परिश्रम से अर्जित कमाई को मूर्खतापूर्वक नष्ट न करके, बुद्धिमत्तापूर्वक लाभप्रद कार्य में लगा सके।

इसी तरह प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य को भगवान् की पूजा करना सिखाता है और अप्रौढ़ शिष्य को चाहिए कि वह हर वस्तु अपने गुरु के चरणकमलों में उसी तरह अर्पित कर दे जिस तरह कि

कच्ची उम्र का बालक बैंक में अपना निजी खाता नहीं रखता, प्रत्युत अपना जेबखर्च अपने पिता से प्राप्त करता है, जो उसे जिम्मेदार बनना सिखाता है। यदि कोई व्यक्ति अपने गुरु या कृष्ण के आदेश का उल्लंघन करके अपने आप को छलता है, तो वह अभक्त या विषयी बन जाता है और आध्यात्मिक पथ से नीचे गिर जाता है। इसीलिए गुरु की सेवा करने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए जिससे व्यक्ति कृष्णभावनामृत में परिपक्व बन सके।

शुश्रूषमाण आचार्य सदोपासीत नीचवत् ।

यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृताञ्जलिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

शुश्रूषमाणः—सेवा में लगा हुआ; आचार्यम्—गुरु को; सदा—सदैव; उपासीत—पूजे; नीच-वत्—विनीत सेवक की तरह; यान—जब गुरु चले तो पीछे पीछे चलते हुए; शय्या—गुरु के साथ विश्राम करते हुए; आसन—सेवा करने के लिए गुरु के निकट बैठ कर; स्थानैः—खड़े रह कर तथा गुरु की आज्ञा की प्रतीक्षा करते हुए; न—नहीं; अति—अधिक; दूरे—दूरी पर; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़े।

गुरु की सेवा करते समय शिष्य विनीत सेवक के समान रहता रहे और जब गुरु चलें, तो वह सेवक की तरह उनके पीछे पीछे चले। जब गुरु सोने लगें, तो सेवक भी पास ही लेट जाय और जब गुरु जगें, तो सेवक उनके निकट बैठ कर उनके चरणकमल चापने तथा अन्य सेवा-कार्य करने में लग जाय। जब गुरु अपने आसन पर बैठे हों, तो सेवक उनके पास हाथ जोड़ कर, गुरु-आदेश की प्रतीक्षा करे। वह इस तरह से गुरु की सदैव पूजा करे।

एवंवृत्तो गुरुकुले वसेद्भोगविवर्जितः ।

विद्या समाप्यते यावद्विभ्रद्ब्रतमखण्डितम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; वृत्तः—लगा हुआ; गुरु-कुले—गुरु के आश्रम में; वसेत्—रहे; भोग—इन्द्रियतृप्ति; विवर्जितः—से मुक्त; विद्या—वैदिक शिक्षा; समाप्यते—पूरी होती है; यावत्—जब तक; विभ्रत्—धारण करते हुए; ब्रतम्—(ब्रह्मचर्य) ब्रत; अखण्डितम्—अखण्ड।

जब तक विद्यार्थी अपनी वैदिक शिक्षा पूरी न कर ले, उसे गुरु के आश्रम में कार्यरत रहना चाहिए, उसे इन्द्रियतृप्ति से पूर्णतया मुक्त रहना चाहिए और उसे अपना ब्रह्मचर्य ब्रत नहीं तोड़ना चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक में उपकुर्वाण ब्रह्मचारी का वर्णन हुआ है, जो अपनी वैदिक शिक्षा पूरी करने के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। एवंवृत्तः शब्द सूचित करता है कि अन्ततः भले ही मनुष्य

विवाह करके समाज में बुद्धिजीवी, राजनीतिज्ञ या व्यापारी के रूप में प्रधानता प्राप्त कर ले, किन्तु विद्यार्थी जीवन में उसे मिथ्या प्रतिष्ठा से रहित होकर प्रामाणिक गुरु के विनीत सेवक के रूप में रहना चाहिए। नैष्ठिकि ब्रह्मचारी विवाह नहीं करता। इसका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन्ब्रह्मविष्टपम् ।
गुरुवे विन्यसेदेहं स्वाध्यायार्थं बृहद्ब्रतः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; असौ—वह विद्यार्थी; छन्दसाम् लोकम्—महर्लोक में; आरोक्ष्यन्—चढ़ने की इच्छा करते हुए; ब्रह्म-विष्टपम्—ब्रह्मलोक; गुरुवे—गुरु को; विन्यसेत्—अर्पित करे; देहम्—अपना शरीर; स्व-अध्याय—श्रेष्ठ वैदिक अध्ययन के; अर्थम्—हेतु; बृहद्-ब्रतः—आजीवन ब्रह्मचर्य का शक्तिशाली व्रत रखते हुए।

यदि ब्रह्मचारी महर्लोक या ब्रह्मलोक जाना चाहता है, तो उसे चाहिए कि गुरु को अपने सारे कर्म अर्पित कर दे और आजीवन ब्रह्मचर्य के शक्तिशाली व्रत का पालन करते हुए अपने को श्रेष्ठ वैदिक अध्ययन में समर्पित कर दे।

तात्पर्य : जो व्यक्ति जीवन की चरम सिद्धि का इच्छुक हो, उसे अपना तन, मन तथा वाणी अपने गुरु की सेवा में लगा देने चाहिए। जो व्यक्ति ब्रह्मलोक तथा महर्लोक जैसे उच्च लोकों को जाना चाहता हो उसे गुरु की सेवा में पूरी तरह लगना चाहिए। इस तरह हम कल्पना कर सकते हैं कि कृष्ण-लोक, जो कि इस ब्रह्माण्ड से बहुत दूर है, उसको प्राप्त करने के लिए कितनी निष्ठा तथा सेवा की जरूरत है।

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम् ।
अपृथग्धीरुपसीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अग्नौ—अग्नि में; गुरौ—गुरु में; आत्मनि—अपने में; च—भी; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों में; माम्—मुझको; परम्—परम; अपृथक्-धीः—द्वैत से रहित; उपासीत—पूजा करे; ब्रह्म-वर्चस्वी—वैदिक प्रकाश से युक्त; अकल्मषः—निष्पाप।

इस तरह गुरु की सेवा करने से वैदिक ज्ञान में प्रबुद्ध, समस्त पापों तथा द्वैत से मुक्त हुआ व्यक्ति, परमात्मा रूप में मेरी पूजा करे क्योंकि मैं अग्नि, गुरु, मनुष्य की आत्मा तथा समस्त जीवों के भीतर प्रकट होता हूँ।

तात्पर्य : मनुष्य वैदिक जीवन-शैली में दक्ष गुरु की श्रद्धापूर्वक सेवा करके यशस्वी तथा प्रबुद्ध बन जाता है। इस प्रकार शुद्ध हुआ व्यक्ति फिर कभी ऐसे पाप-कृत्यों में रत नहीं होता जो आध्यात्मिक प्रकाश की अग्नि को तुरन्त बुझा सकें। न ही वह मूर्ख तथा क्षुद्र हृदय बनकर अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति

के लिए प्रकृति का दोहन करता है। शुद्ध व्यक्ति अपृथग्-धी-द्वैतभाव से रहित—होता है क्योंकि उसे सभी वस्तुओं के भीतर भगवान् का दर्शन करने की शिक्षा दी गई है। ऐसी उदात्त चेतना की शिक्षा विश्व-भर में दी जानी चाहिए जिससे मानव समाज शान्त तथा उदात्त बन सके।

स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम् ।

प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीणाम्—स्त्रियों के सम्बन्ध में; निरीक्षण—देखने; स्पर्श—छूने; संलाप—बात करने; क्ष्वेलन—हँसी-मजाक करने; आदिकम्—इत्यादि; प्राणिनः—जीव; मिथुनी-भूतान्—संभोगरत; अगृह-स्थः—संन्यासी, वानप्रस्थ या ब्रह्मचारी; अग्रतः—सर्वप्रथम; त्यजेत्—छोड़ दे।

जो विवाहित नहीं हैं अर्थात् संन्यासी, वानप्रस्थ तथा ब्रह्मचारी, उन्हें स्त्रियों को कभी भी देख कर, छू कर, बात करके, हँसी-मजाक करके या खेल-खेल में उनकी संगति नहीं करनी चाहिए। न ही वे किसी ऐसे जीव का साथ करें जो संभोगरत हों।

तात्पर्य : प्राणिनः—सारे जीवों का सूचक है, चाहे वे पक्षी हों, मधुमक्खी हों या मनुष्य हों। अधिकांश योनियों में मैथुन-क्रिया से पूर्व विविध संभोग-क्रियाएँ होती हैं। मानव समाज में सभी प्रकार के आमोद-प्रमोद (पुस्तकें, संगीत, फिल्म इत्यादि) तथा मनोरंजन के सभी स्थान (होटल, विक्री-केन्द्र, हवाखोरी के स्थान) कामेच्छा को बढ़ाने तथा रोमांस का वातावरण तैयार करने के लिए होते हैं। जो विवाहित नहीं हैं—अर्थात् संन्यासी, ब्रह्मचारी या वानप्रस्थ को चाहिए कि संभोग (यौन) से सम्बद्ध हर वस्तु का वहिष्कार करे और किसी जीव को चाहे वह पक्षी हो, कीड़ा हो या मनुष्य हो, संभोग करते न देखे। जब कोई पुरुष किसी स्त्री से मजाक करता है, तो तुरन्त ही घनिष्ठ कामुक वातावरण बन जाता है, अतः जो ब्रह्मचर्य पालन करना चाहता हो उसे इनसे बचना चाहिए। यहाँ तक कि गृहस्थ भी ऐसे कार्यों में लिप्त होने पर अज्ञान के गर्त में जा गिरता है।

शौचमाचमनं स्नानं सन्ध्योपास्तिर्ममार्चनम् ।

तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासम्भाष्यवर्जनम् ॥ ३४ ॥

सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन ।

मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

शौचम्—स्वच्छता; आचमनम्—जल से हाथ शुद्ध करना; स्नानम्—स्नान; सन्ध्या—सूर्योदय, दोपहर तथा शाम को; उपास्तिः—धार्मिक सेवा; मम—मेरी; अर्चनम्—पूजा; तीर्थ-सेवा—तीर्थस्थानों की यात्रा; जपः—भगवन्नाम का उच्चारण; अस्पृश्य—अछूत; अभक्ष्य—अखाद्य; असम्भाष्य—या जिसकी चर्चा करने लायक न हो; वर्जनम्—निषेध; सर्व—सभी; आश्रम—आश्रम; प्रयुक्तः—आदिष्ट; अयम्—यह; नियमः—नियम; कुल-नन्दन—हे ऊर्ध्व; मत्-भावः—मेरे अस्तित्व का बोध; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों में; मनः—मन; वाक्—शब्द; काय—शरीर का; संयमः—नियमन, संयम।

हे ऊर्ध्व, सामान्य स्वच्छता, हाथों का धोना, स्नान करना, सूर्योदय, दोपहर तथा शाम को धार्मिक सेवा का कार्य करना, मेरी पूजा करना, तीर्थस्थान जाना, जप करना, अछूत, अखाद्य या चर्चा के अयोग्य वस्तुओं से दूर रहना तथा समस्त जीवों में परमात्मा रूप में मेरे अस्तित्व का स्मरण करना—इन सिद्धान्तों को समाज के सारे सदस्यों को मन, वचन तथा कर्म के संयम द्वारा पालन करना चाहिए।

एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन् ।

मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; बृहत्-व्रत—ब्रह्मचर्य का महान् व्रत; धरः—धारण करते हुए; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; अग्निः—अग्नि; इव—सदृश; ज्वलन्—तेजयुक्त; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; तीव्र-तपसा—गम्भीर तपस्या द्वारा; दग्ध—जला हुआ; कर्म—सकाम कर्म की; आशयः—प्रवृत्ति; अमलः—भौतिक इच्छा के कल्मष से रहित।

ब्रह्मचर्य का महान् व्रत धारण करने वाला ब्राह्मण अग्नि के समान तेजस्वी हो जाता है और वह गहन तपस्या द्वारा भौतिक कर्म करने की लालसा को भस्म कर देता है। इस तरह भौतिक इच्छा के कल्मष से रहित होकर, वह मेरा भक्त बन जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में मोक्ष की विधि वर्णित है। एक बार हवाई जहाज से यात्रा करते समय श्रील प्रभुपाद से एक पादड़ी यात्री ने कहा कि उसने उनके शिष्यों को देखा है। उनके मुख 'तेजस्वी' थे। श्रील प्रभुपाद इस घटना को अक्सर बताते रहते थे। आत्मा सूर्य से भी अधिक तेजवान है और ज्यों ज्यों आध्यात्मिक संस्कार प्रभावशाली बनते जाते हैं, त्यों त्यों भक्त का बाह्य स्वरूप भी तेजवान बनता जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान की ज्वलित अग्नि इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्ति को भस्म कर देती है, जिससे मनुष्य सहज ही तपोमय तथा संसारी भोग से विरक्त हो जाता है। समस्त तपस्याओं में ब्रह्मचर्य सर्वोपरि है और इसके द्वारा भौतिक जीवन के बन्धन छिन्न हो जाते हैं। जो अमल अर्थात् भौतिक इच्छा से मुक्त होता है, वह भगवान् का शुद्ध भक्त कहलाता है। ज्ञान, कर्म तथा योग के मार्गों में मन स्वार्थ बनाये रखता है किन्तु शुद्ध भक्ति के मार्ग पर मन को एकमात्र भगवान् के हितों को देखने का प्रशिक्षण दिया

जाता है। इस तरह भगवान् का शुद्ध भक्त *अमल* होता है।

अथानन्तरमावेक्ष्यन्यथाजिज्ञासितागमः ।

गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स्नायाद्गुर्वनुमोदितः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; अनन्तरम्—इसके पश्चात्; आवेक्ष्यन्—गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की इच्छा से; यथा—समुचित; जिज्ञासित—अध्ययन करके; आगमः—वैदिक साहित्य; गुरवे—गुरु को; दक्षिणाम्—पारिश्रमिक; दत्त्वा—देकर; स्नायात्—ब्रह्मचारी को स्नान करके, कंधा करना तथा सुन्दर वस्त्र पहनना चाहिए.; गुरु—गुरु द्वारा; अनुमोदितः—अनुमति दिये जाने पर।

जो ब्रह्मचारी अपनी वैदिक शिक्षा पूरी करके गृहस्थ जीवन में प्रवेश करना चाहता है, उसे चाहिए कि वह गुरु को समुचित पारिश्रमिक (गुरु-दक्षिणा) दे, स्नान करे, बाल कटाये और उचित वस्त्र इत्यादि धारण करे। तब अपने गुरु की अनुमति से वह अपने घर को जाय।

तात्पर्य : इस श्लोक में *समावर्तन* अर्थात् गुरु के आश्रम में वैदिक शिक्षा पूरी करके अपने घर लौटने की विधि वर्णित है। जो व्यक्ति अपनी सारी इच्छाओं को भगवद्भक्ति में केन्द्रित नहीं कर पाता, वह गृहस्थ जीवन के प्रति आकृष्ट होता है और यदि यह आकर्षण नियंत्रित नहीं किया जाता तो मनुष्य का पतन हो जाता है। सकाम कर्म तथा मानसिक चिंतन की अविद्या से प्रच्छन्न होने के कारण, जीव भगवद्भक्ति के बाहर भोग की तलाश करता है और अभक्त बन जाता है। अपने आध्यात्मिक संकल्प के पतन से बचने के लिए गृह-जीवन स्वीकार करने वाले को दृढ़तापूर्वक वैदिक विधि-विधानों का पालन करना चाहिए। जो व्यक्ति स्त्रियों के साथ घनिष्ठ इन्द्रियतृप्ति पाता है, वह अन्यो के साथ अपने व्यवहार में द्वैत बरतता है; फलस्वरूप वह सादे शुद्ध जीवन के पद से नीचे गिर जाता है। जब कामवासना से मन विचलित होता है, तो मनुष्य भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्त की शरण में जाने का प्रतिरोध करने लगता है और उसकी अपराधमूलक प्रवृत्ति के घने बादल आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश को पूरी तरह आच्छादित कर लेते हैं। मनुष्य को शुद्ध भक्त के चरणकमलों की सेवा करके किसी से प्रेम करने की उत्कट इच्छा से संधि कर लेनी चाहिए। जैसाकि वैदिक साहित्य में कहा गया है, “जो व्यक्ति गोविन्द अर्थात् भगवान् कृष्ण की पूजा करता है, किन्तु उनके भक्त की पूजा नहीं करता, उसे महावैष्णव नहीं माना जाता, प्रत्युत घमंडी धूर्त माना जाता है।”

गृहं वनं वोपविशोत्प्रब्रजेद्वा द्विजोत्तमः ।

आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथामत्परश्चरेत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

गृहम्—घर; वनम्—जंगल; वा—या तो; उपविशेत्—प्रवेश करे; प्रव्रजेत्—त्याग दे; वा—अथवा; द्विज-उत्तमः—ब्राह्मण; आश्रमात्—जीवन के अधिकारप्राप्त एक पद से; आश्रमम्—दूसरे अधिकारप्राप्त पद तक; गच्छेत्—जाए; न—नहीं; अन्यथा—नहीं तो; अमत्-परः—जो मेरा शरणागत नहीं है; चरेत्—कार्य करे।

अपनी भौतिक इच्छाओं को पूरा करने के लिए इच्छुक ब्रह्मचारी को अपने परिवार के साथ घर पर रहना चाहिए और जो गृहस्थ अपनी चेतना को शुद्ध बनाना चाहे उसे जंगल में प्रवेश करना चाहिए जबकि शुद्ध ब्राह्मण को संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। जो मेरे शरणागत नहीं है उसे एक आश्रम से दूसरे में क्रमशः जाना चाहिए और इससे विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : जो भगवान् के शरणागत नहीं हैं उन्हें अपने प्रामाणिक सामाजिक आश्रम के नियमों का कठोरता से पालन करना चाहिए। जीवन के चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। जो व्यक्ति अपनी भौतिक इच्छाएँ पूरी करना चाहता है उसे सामान्य गृहस्थ बन जाना चाहिए और सुविधाजनक आवास बनाकर अपने परिवार का भरण करना चाहिए। जो व्यक्ति संस्कारों को गति प्रदान करना चाहता हो उसे घर तथा व्यापार छोड़ कर अपनी पत्नी समेत किसी पवित्र स्थान में रहना चाहिए जैसाकि यहाँ पर वनम् शब्द द्वारा इंगित हुआ है। इस कार्य के लिए भारत में अनेक पवित्र वन हैं—यथा वृन्दावन तथा मायापुर। द्विजोत्तम शब्द ब्राह्मण का सूचक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों ही द्विज हैं—अर्थात् गायत्री मंत्र में दीक्षित होते हैं किन्तु इनमें से ब्राह्मण द्विजोत्तम होता है अर्थात् द्विजों में सर्वाश्रेष्ठ। यह संस्तुति की जाती है कि शुद्ध ब्राह्मण संन्यास धारण करे और तब अपनी तथाकथित पत्नी से सम्पर्क न रखे। यहाँ पर ब्राह्मण का विशेष उल्लेख हुआ है क्योंकि क्षत्रियों तथा वैश्यों को संन्यास नहीं लेना पड़ता। तो भी भागवत में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें बड़े बड़े राजा अपनी कुलीन पत्नियों समेत जंगल जाकर वानप्रस्थ की तपस्या करते हैं और इस तरह संस्कार को गति प्रदान करते हैं। किन्तु ब्राह्मण सीधे संन्यास ग्रहण कर सकते हैं।

आश्रमाद् आश्रमं गच्छेत् शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को ब्रह्मचारी जीवन से गृहस्थ जीवन में, गृहस्थ जीवन से वानप्रस्थ जीवन में तथा उसके बाद संन्यास में क्रमशः जा सकता है। आश्रमाद् आश्रमम् शब्द इस बात पर बल देते हैं कि मनुष्य किसी न किसी अधिकृत सामाजिक पद पर बना रहे, वह उच्च पद से नीचे न आये। जो लोग भगवान् के शरणागत नहीं हैं, उन्हें ऐसे आदेशों का कठोरता से

पालन करना चाहिए अन्यथा वे जल्दी ही नीचे गिर जायेंगे और उनके पाप उन्हें अधिकृत मानव सभ्यता की सीमाओं से बाहर ले जाएँगे।

भगवान् कृष्ण यहाँ पर बल देकर कहते हैं कि अभक्त को वैदिक आश्रमों का कड़ाई से पालन करना चाहिए जबकि भगवान् के कार्य में चौबीसों घंटे लगे रहने वाले भगवद्भक्त इन आश्रमों से परे हैं। किन्तु यदि कोई वैदिक आश्रमों से परे होने के कारण अवैध कर्म करता है, तो वह भौतिकतावादी नवदीक्षित सिद्ध होता है, महाभागवत नहीं। ऐसा महाभागवत जो भौतिक इन्द्रियतृप्ति से विलग रहता है ऐसे वैदिक आश्रमों से बँधा नहीं होता। फलतः एक गृहस्थ भी घर से दूर यात्रा करते हुए कृष्णभावनामृत का प्रचार करके तपोमय जीवन बिता सकता है। यहाँ तक कि एक संन्यासी भगवान् कृष्ण की सेवा में स्त्रियों को भी लगा सकता है। महाभागवतों को वर्णाश्रम के विधि-विधान सीमित नहीं कर सकते। वे मुक्त भाव से विश्व-भर में भगवत्प्रेम का वितरण करते हुए विचरण करते हैं। मत्-पर भगवान् के शुद्ध भक्त का सूचक है, जो अपने हृदय तथा चेतना में भगवान् को सदैव बसाये रखता है। जो व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति का शिकार बन कर नीचे गिरता है, वह मत्पर पद पर पूर्णरूपेण स्थापित नहीं रहता। उसे पवित्र मानव जीवन के पद पर स्थायी बने रहने के लिए आश्रमों के नियमों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए।

गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्धेदजुगुप्सिताम् ।

यवीयसीं तु वयसा यं सवर्णामनु क्रमात् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

गृह—घर-गृहस्थी; अर्थी—इच्छुक; सदृशीम्—समान गुणों से युक्त; भार्याम्—पत्नी से; उद्धेत्—ब्याहे; अजुगुप्सिताम्—आक्षेप से परे; यवीयसीम्—वय में छोटी; तु—निस्सन्देह; वयसा—उम्र में; याम्—दूसरी पत्नी; स-वर्णाम्—समान जाति की पहली पत्नी; अनु—बाद में; क्रमात्—क्रम से।

जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन स्थापित करना चाहता है उसे चाहिए कि अपनी ही जाति की ऐसी स्त्री से विवाह करे जो निष्कलंक तथा उम्र में छोटी हो। यदि कोई व्यक्ति अनेक पत्नियाँ रखना चाहता है, तो उसे प्रथम विवाह के बाद उनसे भी ब्याह करना चाहिए और हर पत्नी एक-दूसरे से निम्न जाति की होनी चाहिए।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में कहा गया है—

तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका यथाक्रमम् ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्याः स्वाः शूद्रजन्मनः ॥

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि पहली पत्नी को सहशीम् अर्थात् पति के ही समान होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, बौद्धिक व्यक्ति को बौद्धिक पत्नी से विवाह करना चाहिए, वीर पुरुष को वीरांगना से, व्यापार-बुद्धि वाले को व्यापार-कार्य को प्रोत्साहन देने वाली स्त्री से तथा शूद्र को अपने से कम बुद्धिमान पत्नी से विवाह करना चाहिए। पत्नी को अपनी पृष्ठभूमि तथा चरित्र के मामले में निष्कलंक होना चाहिए और पुरुष से ५-१० वर्ष छोटी होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति दूसरी स्त्री से विवाह करना चाहता है, तो जैसाकि इस श्लोक में वर्णानुपूर्व्येण शब्द से स्पष्ट है और भगवान् कृष्ण ने जो अनुक्रमात् शब्द कहा है, उसके अनुसार उसे तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिए जब तक पहला विवाह स्थापित न हो ले और तब अपने से निम्न जाति की दूसरी स्त्री चुने। यदि कोई व्यक्ति तीसरी बार विवाह करता है, तो इस पत्नी को दूसरी से भी निम्न जाति की होना चाहिए। उदाहरणार्थ, एक ब्राह्मण की पहली पत्नी ब्राह्मणी, दूसरी पत्नी क्षत्राणी, तीसरी पत्नी वैश्याणी और चतुर्थ पत्नी शूद्राणी होगी। एक क्षत्रिय पहला विवाह एक क्षत्रिय महिला से कर सकता है, तत्पश्चात् वैश्य तथा शूद्र महिलाओं से। एक वैश्य दो जातियों से पत्नी चुन सकता है और एक शूद्र केवल शूद्र जाति से। इस प्रकार के क्रमिक विवाहों से परिवार में अपेक्षतया शान्ति बनी रहेगी। ये वैदिक आदेश जो पिछले श्लोक में वर्णित हैं, विशेष रूप से उन लोगों के लिए हैं, जो भगवद्भक्त नहीं हैं।

इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम् ।

प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

इज्या—यज्ञ; अध्ययन—वैदिक अध्ययन; दानानि—दान; सर्वेषाम्—सभी; च—भी; द्वि-जन्मनाम्—द्विजों के; प्रतिग्रहः—दान लेना; अध्यापनम्—वैदिक ज्ञान की शिक्षा देना; च—भी; ब्राह्मणस्य—ब्राह्मण के; एव—एकमात्र; याजनम्—अन्यों के लिए यज्ञ करना।

सभी द्विजों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों को यज्ञ करना चाहिए, वैदिक साहित्य का अध्ययन करना चाहिए और दान देना चाहिए। किन्तु ब्राह्मण ही दान ले सकते हैं, वे ही वैदिक ज्ञान की शिक्षा दे सकते हैं और अन्यों के लिए यज्ञ कर सकते हैं।

तात्पर्य : सभी सभ्य व्यक्तियों को यज्ञ करने, दान देने तथा वैदिक साहित्य का अध्ययन करने में सम्मिलित होना चाहिए। द्विजों में सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणों को विशेष अधिकार दिया गया है कि समाज के सारे

सदस्यों की ओर से यज्ञ करने का नेतृत्व करें, हर एक को वैदिक शिक्षा दें तथा हर एक का दान लें। योग्य ब्राह्मणों की सहायता या सहयोग के बिना निम्न जातियाँ न तो ठीक से वेदाध्ययन कर सकती हैं, न यज्ञ कर सकती हैं, न दान दे सकती हैं, क्योंकि ऐसे कार्यों को सम्पन्न करने के लिए वांछित ज्ञान का उनमें अभाव रहता है। जब क्षत्रिय तथा वैश्यगण प्रामाणिक ब्राह्मणों का आश्रय लेते हैं, तो वे अपना अपना कर्तव्य ठीक से निभा सकते हैं और समाज का कार्य सरलता तथा दक्षता से चलता है।

प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम् ।

अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा दोषदृक् तयोः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

प्रतिग्रहम्—दान लेना; मन्यमानः—मानते हुए; तपः—तपस्या; तेजः—आध्यात्मिक प्रभाव; यशः—तथा यश का; नुदम्—विनाश; अन्याभ्याम्—अन्य दो (यज्ञ तथा वेद-विद्या) के द्वारा; एव—निस्सन्देह; जीवेत—ब्राह्मण को जीवित रहना चाहिए; शिलैः—खेत से गिरा हुआ अन्न बीन करके; वा—अथवा; दोष—कमी; दृक्—देख कर; तयोः—दोनों में से।

जो ब्राह्मण यह माने कि अन्यो के दान लेने से उसकी तपस्या, आध्यात्मिक प्रतिष्ठा तथा यश नष्ट हो जायेंगे, उसे चाहिए कि अन्य दो ब्राह्मण वृत्तियों से—वेद-ज्ञान की शिक्षा देकर तथा यज्ञ सम्पन्न करके अपना भरण करे। यदि वह ब्राह्मण यह माने कि ये दोनों वृत्तियाँ भी उसके आध्यात्मिक पद को क्षति पहुँचाती हैं, तो उसे चाहिए कि खेतों में गिरा अन्न (शीला) बीने और अन्यो पर निर्भर न रहते हुए जीवन-निर्वाह करे।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त को यह याद रखना चाहिए कि भगवान् स्वयं ही उसकी रखवाली करेंगे।

श्रीमद्भगवद्गीता (९.२२) में भगवान् कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

“किन्तु जो लोग अनन्य भाव से मेरे दिव्य स्वरूप का ध्यान करते हुए निरन्तर मेरी पूजा करते हैं, उनकी जो भी आवश्यकताएँ होती हैं, उन्हें मैं पूरा करता हूँ और उनके पास जो कुछ भी है उसकी रक्षा करता हूँ।”

ब्राह्मण को निजी निर्वाह के लिए पेशेवर भिखारी नहीं बन जाना चाहिए। भारत में ऐसे असंख्य तथाकथित ब्राह्मण हैं, जो महत्त्वपूर्ण मन्दिरों के द्वारों पर बैठे रहते हैं और आने-जाने वाले हर व्यक्ति से भिक्षा माँगते हैं। यदि कोई कुछ नहीं देता, तो वे क्रुद्ध होकर उस व्यक्ति का पीछा करने लगते हैं।

इसी तरह अमेरिका में अनेक बड़े बड़े प्रचारक टेलीविजन तथा रेडियो पर भीख माँग पर प्रचुर धन एकत्र करते हैं। यदि कोई ब्राह्मण या वैष्णव यह सोचता है कि पेशेवर भिखारी बनने से उसकी तपस्या क्षीण हो रही है, उसका आध्यात्मिक पद घट रहा है और इससे अपयश हो रहा है, तो उसे यह कर्म त्याग देना चाहिए। कोई भी मनुष्य भगवान् के कार्य के लिए हर किसी से दान देने के लिए विनती कर सकता है किन्तु यदि वह अपनी जीविका के लिए भीख माँगता है, तो इससे उसकी तपस्या, पद तथा यश में कमी आयेगी। तब ब्राह्मण वैदिक ज्ञान की शिक्षा देने तथा यज्ञ कराने का कार्य कर सकता है। किन्तु ऐसी वृत्तियों से भी उसे ईश्वर का विश्वसनीय पद प्राप्त नहीं होता। जो ब्राह्मण अपनी जीविका के लिए शिक्षा देता है, प्रायः उसके शिक्षण पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है और जो यज्ञ कराता हो उसका कार्य भौतिकतावादी पूजक पूरा करा सकते हैं। इस तरह ब्राह्मण संकट में पड़ सकता है। इसलिए उच्च कोटि का ब्राह्मण अथवा वैष्णव अन्तः भगवान् की दया पर ही अपनी जीविका के लिए निर्भर रहेगा। भगवान् अपने भक्त का पालन करने का वचन देते हैं और बढ़ा-चढ़ा वैष्णव कभी भी भगवान् के वचन पर सन्देह नहीं करता।

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।

कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणस्य—ब्राह्मण का; हि—निश्चय ही; देहः—शरीर; अयम्—यह; क्षुद्र—नगण्य; कामाय—इन्द्रियतृप्ति के लिए; न—नहीं; इष्यते—होता है; कृच्छ्राय—कठिन; तपसे—तपस्या के लिए; च—भी; इह—इस संसार में; प्रेत्य—मर कर; अनन्त—असीम; सुखाय—सुख के लिए; च—भी।

ब्राह्मण का शरीर क्षुद्र इन्द्रिय भोग के निमित्त नहीं होता, प्रत्युत वह कठिन तपस्या स्वीकार करके मृत्यु के उपरान्त असीम सुख भोगेगा।

तात्पर्य : यह प्रश्न किया जा सकता है कि अपने जीवन-निर्वाह हेतु एक ब्राह्मण स्वेच्छा से असुविधा को स्वीकार क्यों करे? इस श्लोक में भगवान् बतलाते हैं कि प्रगत मानव-जीवन गम्भीर तपस्या के लिए होता है, क्षुद्र इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं। आध्यात्मिक प्रगति से मनुष्य आध्यात्मिक स्तर पर दिव्य आनन्द को प्राप्त होता है और इस नाशवान् शरीर में व्यर्थ ही निमग्न रहना छोड़ देता है। मनुष्य को चाहिए कि जीवन की कम-से-कम आवश्यकताएँ स्वीकार करते हुए भौतिक शरीर से अनासक्त रहे। ब्राह्मणजन कष्टप्रद जीविका स्वीकार करके भी यह नहीं भूलते कि इस शरीर को वृद्ध

होना, रुग्ण होना तथा कष्ट में मरना बड़ा है। इस तरह प्रगत ब्राह्मण सतर्क तथा दिव्य रहते हुए जीवन के अन्त में भगवद्भ्राम जाते हैं जहाँ उसे असीम आध्यात्मिक आनन्द मिलता है। ऐसी उच्चतर सतर्कशीलता के बिना कोई योग्य ब्राह्मण कैसे माना जा सकता है ?

जो भक्तगण चौबीसों घण्टे भगवान् कृष्ण के सन्देश का प्रसार करने में लगे रहते हैं, वे वैराग्य या इन्द्रियतृप्ति के स्तर से परे हैं क्योंकि वे हर वस्तु को कृष्ण की सेवा में लगाते हैं। शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा करने के लिए शक्ति पाने हेतु ही भोजन करता है। वह अपने शरीर के निमित्त अच्छा या स्वल्प भोजन ग्रहण नहीं करता। किन्तु भगवान् के लिए कुछ भी, अच्छा भोजन भी, ग्रहण किया जा सकता है। जो ब्राह्मण भगवान् का यश फैलाने के लिए अहर्निश कार्य नहीं करता, उसे अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए अच्छा भोजन करने में संकोच होना चाहिए। किन्तु विरक्त वैष्णव उपदेशक किसी भी जाति के पवित्र लोगों का आमंत्रण स्वीकार कर सकता है और उनको आशीर्वाद देने के लिए ही उनके द्वारा प्रदत्त अच्छा भोजन ग्रहण करता है। इसी प्रकार वह कभी कभी नास्तिकों तथा निर्विशेषवादियों को परास्त करने के लिए पौष्टिक भोजन कर सकता है। जैसाकि वैदिक वाङ्मय में कथित है कि जब तक कोई व्यक्ति भगवान् का भक्त नहीं हो लेता, तब तक वह अत्यन्त योग्य ब्राह्मण नहीं बन सकता। भक्तों में से जो लोग कृष्णभावनामृत का उपदेश देते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ हैं जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* के अठारहवें अध्याय में पुष्टि की है।

शिलोज्ज्वल्य परितुष्टचित्तो

धर्म महान्तं विरजं जुषाणः ।

मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठन्

नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

शिल-उज्ज्वल—अन्न बीनने की; वृत्त्या—वृत्ति द्वारा; परितुष्ट—पूर्णतया सन्तुष्ट; चित्तः—चेतना वाला; धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्तों को; महान्तम्—उदात्त तथा अतिथि-सत्कार करने वाला; विरजम्—भौतिक इच्छाओं से रहित; जुषाणः—अनुशीलन करते हुए; मयि—मुझमें; अर्पित—अर्पित; आत्मा—मन वाला; गृह—घर में; एव—ही; तिष्ठन्—रहते हुए; न—नहीं; अति—अत्यधिक; प्रसक्तः—आसक्त, लिप्त; समुपैति—प्राप्त करता है; शान्तिम्—मोक्ष।

ब्राह्मण गृहस्थ को खेतों तथा मंडियों में गिरे अन्न के दाने बीन कर अपने मन में सन्तुष्ट रहना चाहिए। उसे अपने को निजी इच्छा से मुक्त रखते हुए मुझमें लीन रह कर उदात्त धार्मिक सिद्धान्तों का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह गृहस्थ के रूप में ब्राह्मण बिना आसक्ति के घर

में ही रह सकता है और मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : महान्तम् शब्द उदात्त (वदान्य) धार्मिक सिद्धान्तों का द्योतक है जैसे कि अतिथि-सत्कार जिसमें वे अतिथि भी सम्मिलित हैं, जो बिना आमंत्रण के आएँ या अप्रत्याशित हों। गृहस्थों को सदैव उदात्त तथा अन्यो को दान देने वाले और व्यर्थ के पारिवारिक स्नेह तथा आसक्ति को समाप्त करने में सतर्क रहने वाले होना चाहिए। प्राचीन काल में अत्यन्त विख्यात ब्राह्मण-गृहस्थ मंडियों में गिरे हुए या फसल काटने के बाद खेतों में गिरे हुए अन्न को एकत्र करते थे। यहाँ पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात है *मय्यर्पितात्मा*—अर्थात् भगवान् कृष्ण में मन लगाना। अपनी भौतिक स्थिति के बावजूद जो व्यक्ति निरन्तर भगवान् का ध्यान करता है, वह मुक्तात्मा बन सकता है। *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.२.१८७) में कहा गया है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा ।

निखिलाष्वपि अवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

“अपने शरीर, मन, बुद्धि तथा वाणी से कृष्णभावनामृत (अर्थात् कृष्ण-सेवा) में कार्य कर रहा मनुष्य इस भौतिक जगत में रहते हुए भी मुक्तात्मा होता है भले ही वह अनेक तथाकथित भौतिक कार्यकलापों में क्यों न लगा रहे।”

समुद्धरन्ति ये विप्रं सीदन्तं मत्परायणम् ।

तानुद्धरिष्ये न चिरादापद्भ्यो नौरिवार्णवात् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

समुद्धरन्ति—ऊपर उठाते हैं; ये—जो; विप्रम्—ब्राह्मण या भक्त को; सीदन्तम्—(गरीबी) से कष्ट पा रहे; मत्-परायणम्—मेरे शरणागत; तान्—उठाने वालों को; उद्धरिष्ये—मैं ऊपर उठाऊँगा; न चिरात्—निकट भविष्य में; आपद्भ्यः—सारे कष्टों से; नौः—नाव; इव—सदृश; अर्णवात्—समुद्र से।

जिस प्रकार जहाज समुद्र में गिरे हुए लोगों को बचा लेता है, उसी तरह मैं उन व्यक्तियों को सारी विपत्तियों से तुरन्त बचा लेता हूँ जो दरिद्रता से पीड़ित ब्राह्मणों तथा भक्तों को उबार लेते हैं।

तात्पर्य : भगवान् ने यह बतलाया है कि ब्राह्मण तथा भक्तगण किस तरह जीवन-सिद्धि पाते हैं। वैसी ही सिद्धि, उन्हें भी प्रदान की जाती है, जो अपनी भौतिक सम्पत्ति का उपयोग भक्तों तथा ब्राह्मणों की दरिद्रता दूर करने में करते हैं। यद्यपि मनुष्य विषय-भोग का जीवन बिताने के लिए भगवद्भक्ति

की उपेक्षा कर सकता है, किन्तु भगवान् की सेवा में अपनी गाढ़ी कमाई अर्पित करके वह अपनी स्थिति सुधार सकता है। जिस तरह समुद्र में गिरे हुए निराश लोगों को एक नाव बचा लेती है उसी तरह भगवान् उन लोगों को उबारते हैं, जो भौतिक आसक्ति के सागर में निराश होकर गिर गये होते हैं यदि वे ब्राह्मणों तथा भक्तों के प्रति उदार हों।

सर्वाः समुद्धरेद्राजा पितेव व्यसनात्प्रजाः ।

आत्मानमात्मना धीरो यथा गजपतिर्गजान् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सर्वाः—सभी; समुद्धरेत्—ऊपर उठाना चाहिए; राजा—राजा; पिता—पिता; इव—सदृश; व्यसनात्—विपत्तियों से; प्रजाः—जनता; आत्मानम्—अपने आपको; आत्मन—अपने आप; धीरः—निर्भीक; यथा—जिस तरह; गज-पतिः—गजराज; गजान्—अन्य हाथियों को।

जिस तरह हाथियों का राजा अपने झुंड के अन्य सारे हाथियों की रक्षा करता है और अपनी भी रक्षा करता है, उसी तरह निर्भीक राजा को पिता के समान अपनी सारी प्रजा को कठिनाई से बचाना चाहिए और अपनी भी रक्षा करनी चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ब्राह्मणों के कर्तव्यों का वर्णन कर चुकने के बाद, अब राजा के चरित्र तथा कार्यों का वर्णन करते हैं। सारी प्रजा को विपत्ति से बचाना राजा का अनिवार्य कर्तव्य है।

एवंविधो नरपतिर्विमानेनार्कवर्चसा ।

विधूयेहाशुभं कृत्स्नमिन्द्रेण सह मोदते ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

एवम्-विधः—इस प्रकार (अपनी तथा प्रजा की रक्षा करते हुए); नर-पतिः—राजा; विमानेन—वायुयान से; अर्क-वर्चसा—सूर्य के समान तेजोमय; विधूय—हटाकर; इह—पृथ्वी पर; अशुभम्—पापों को; कृत्स्नम्—समस्त; इन्द्रेण—इन्द्र के; सह—साथ; मोदते—भोग करता है।

जो राजा अपने राज्य से सारे पापों को हटाकर अपनी तथा सारी प्रजा की रक्षा करता है, वह निश्चय ही इन्द्र के साथ सूर्य जैसे तेजवान विमान में सुख भोगता है।

सीदन्विप्रो वणिग्वृत्त्या पण्यैरेवापदं तरेत् ।

खड्गेन वापदाक्रान्तो न श्रवृत्त्या कथञ्चन ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

सीदन्—कष्ट उठाता; विप्रः—ब्राह्मण; वणिक्—बनिए की; वृत्त्या—वृत्ति द्वारा; पण्यैः—व्यापार के द्वारा; एव—निस्सन्देह; आपदम्—विपत्ति; तरेत्—पार करे; खड्गेन—तलवार से; वा—अथवा; आपदा—विपत्ति से; आक्रान्तः—पीड़ित; न—नहीं; श्व—कुत्ते की; वृत्त्या—वृत्ति से; कथञ्चन—जैसे भी हो।

यदि कोई ब्राह्मण अपने नियमित कर्तव्यों द्वारा अपना निर्वाह नहीं कर पाता और कष्ट उठाता है, तो वह व्यापारी की वृत्ति अपनाकर वस्तुएँ क्रय-विक्रय करके अपनी दीन अवस्था को सुधार सकता है। यदि वह व्यापारी के रूप में भी नितान्त दरिद्र बना रहता है, तो वह हाथ में तलवार लेकर क्षत्रिय-वृत्ति अपना सकता है। किन्तु किसी भी दशा में वह किसी सामान्य स्वामी को स्वीकार करके कुत्ते जैसा नहीं बन सकता (श्वान-वृत्ति)।

तात्पर्य : श्व-वृत्त्या अर्थात् कुत्ते की वृत्ति शूद्रों का सूचक है, जो स्वामी बनाये बिना जीवित नहीं रह सकते। अत्यन्त दीन ब्राह्मण, असह्य कष्ट भोगने पर पहले व्यापारी और तब क्षत्रिय बन सकता है, किन्तु उसे कभी भी स्वामी के साथ अथवा अधीन काम करते हुए, शूद्र पद ग्रहण नहीं करना चाहिए। यद्यपि क्षत्रिय को सामान्यतया वैश्य से उच्च माना जाता है, किन्तु यहाँ पर भगवान् संस्तुति करते हैं कि दीन ब्राह्मण पहले वैश्यवृत्ति अपनाये क्योंकि यह हिंसक नहीं है।

वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगययापदि ।
चरेद्वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

वैश्य—व्यापारी वर्ग की; वृत्त्या—वृत्ति द्वारा; तु—निस्सन्देह; राजन्यः—राजा; जीवेत्—अपना जीवन-निर्वाह करे; मृगयया—शिकार करके; आपदि—आपात् काल या विपत्ति में; चरेत्—कार्य करे; वा—अथवा; विप्र-रूपेण—ब्राह्मण के रूप में; न—कभी नहीं; श्व—कुत्ते की; वृत्त्या—वृत्ति द्वारा; कथञ्चन—किसी भी दशा में।

राजा या राजकुल का सदस्य, जो अपनी सामान्य वृत्ति द्वारा अपना निर्वाह नहीं कर सकता, वह वैश्य की तरह कर्म कर सकता है, शिकार करके जीवन चला सकता है अथवा ब्राह्मण की तरह अन्यो को वैदिक ज्ञान की शिक्षा देकर काम कर सकता है। किन्तु किसी भी दशा में उसे शूद्र-वृत्ति नहीं अपनानी चाहिए।

शूद्रवृत्तिं भजेद्वैश्यः शूद्रः कारुकटक्रियाम् ।
कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

शूद्र—शूद्रों की; वृत्तिम्—वृत्ति; भजेत्—स्वीकार करे; वैश्यः—वैश्य; शूद्रः—शूद्र; कारु—मजदूर का; कट—टोकरी तथा चटाई; क्रियाम्—बनाना; कृच्छ्रात्—कठिन स्थिति से; मुक्तः—मुक्त हुआ; न—नहीं; गह्वेण—निकृष्ट द्वारा; वृत्तिम्—जीविका; लिप्सेत—कामना करे; कर्मणा—कार्य द्वारा।

जो वैश्य अपना जीवन-निर्वाह न कर सकता हो, वह शूद्र-वृत्ति अपना सकता है और जो शूद्र उपयुक्त स्वामी न पा सके वह डलिया तथा चटाई बनाने जैसे सामान्य कार्यों में लग सकता है। किन्तु समाज के वे सारे सदस्य जिन्होंने आपात्काल में निकृष्ट वृत्तियाँ अपनाई हों, उन्हें विपत्ति बीत जाने पर इन कार्यों को तुरन्त त्याग देना चाहिए।

वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम् ।

देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

वेद-अध्याय—वैदिक ज्ञान का अध्ययन; स्वधा—स्वधा मंत्र अर्पित करके; स्वाहा—स्वाहा मंत्र द्वारा; बलि—भोजन देकर; अन्न-आद्यैः—अन्न, जल इत्यादि देकर; यथा—के अनुसार; उदयम्—सम्पन्नता; देव—देवता; ऋषि—ऋषि; पितृ—पूर्वजों; भूतानि—तथा सारे जीवों के; मत्-रूपाणि—मेरी शक्ति के स्वरूपों; अनु-अहम्—प्रतिदिन; यजेत्—पूजा करे।

गृहस्थ आश्रम वाले को नित्य वैदिक अध्ययन द्वारा ऋषियों की, स्वधा मंत्र द्वारा पूर्वजों की, स्वाहा मंत्र का उच्चारण करके देवताओं की, अपने हिस्से का भोजन देकर सारे जीवों की तथा अन्न एवं जल अर्पित करके मनुष्यों की पूजा करनी चाहिए। इस तरह देवताओं, ऋषियों, पूर्वजों, जीवों तथा मनुष्यों को मेरी शक्ति की अभिव्यक्तियाँ मानते हुए हर मनुष्य को नित्य ये पाँच यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् पुनः गृहस्थाश्रम में रहने वालों के कर्तव्यों की व्याख्या करते हैं। स्पष्टतः, यहाँ पर वर्णित पाँच नैतिक अनुष्ठान उन लोगों के निमित्त हैं, जो भगवान् के शुद्ध भक्त नहीं हैं और जिन्हें प्रकृति के दुरुपयोग का निराकरण करने के लिए उपर्युक्त यज्ञ करने होते हैं। इस्कान गृहस्थों, संन्यासियों, ब्रह्मचारियों तथा वानप्रस्थों को चौबीसों घण्टे भगवान् की भक्ति में लगे रहने का प्रशिक्षण देता है। जो लोग इस्कान में पूर्णकालिक प्रचार-कार्य करते हैं, उन्हें कोई और यज्ञ नहीं करना पड़ता जैसी कि श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध (११.५.४१) में पुष्टि की गई है—

देवर्षिभूताप्तृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन् ।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥

“जिसने भी सभी प्रकार के कर्तव्यों को छोड़ कर मुकुन्द के, अर्थात् मुक्ति देने वाले के

चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है और गम्भीरतापूर्वक इस पथ को ग्रहण कर लिया है, उसका देवताओं, ऋषियों, सामान्य जीवों, पारिवारिक जनों, मनुष्यों या पूर्वजों के प्रति न तो कोई कर्तव्य, न ही ऋण शेष रहता है।”

यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा ।

धनेनापीडयन्भृत्याभ्यायेनैवाहरेत्क्रतून् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—बिना प्रयास के; उपपन्नेन—अर्जित किया गया; शुक्लेन—अपनी ईमानदारीपूर्ण वृत्ति से; उपार्जितेन—प्राप्त किया हुआ; वा—अथवा; धनेन—धन से; अपीडयन्—असुविधा उत्पन्न न करते हुए; भृत्यान्—आश्रितों को; व्यायेन—उचित प्रकार से; एव—निस्सन्देह; आहरेत्—सम्पन्न करे; क्रतून्—यज्ञों तथा अन्य धार्मिक उत्सवों को।

गृहस्थ को चाहिए कि स्वेच्छा से प्राप्त धन से या ईमानदारी से सम्पन्न किये जाने वाले कार्य से जो धन प्राप्त हो, उससे अपने आश्रितों का ठीक से पालन-पोषण करे। उसे अपने साधनों के अनुसार यज्ञ तथा अन्य धार्मिक उत्सव सम्पन्न करने चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् उन धार्मिक कार्यों का वर्णन कर रहे हैं, जिन्हें यथासम्भव अपने साधनों के अनुसार तथा जब भी अवसर आये, सम्पन्न करना चाहिए।

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत्कुटुम्ब्यपि ।

विपश्चिन्नश्चरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

कुटुम्बेषु—पारिवारिक जनों से; न—नहीं; सज्जेत—लिप्त हो; न—नहीं; प्रमाद्येत्—अहंकारी बने; कुटुम्बी—अनेक आश्रित पारिवारिक जनों वाला; अपि—यद्यपि; विपश्चित्—चतुर व्यक्ति; नश्चरम्—क्षणभंगुर; पश्येत्—देखे; अदृष्टम्—भावी पुरस्कार यथा स्वर्ग में वास; अपि—निस्सन्देह; दृष्ट-वत्—पहले से अनुभव किया गया जैसा।

अनेक आश्रित पारिवारिक जनों की देखरेख करने वाले गृहस्थ को न तो उनसे अत्यधिक लिप्त होना चाहिए, न ही अपने को स्वामी मान कर मानसिक रूप से असन्तुलित रहना चाहिए। बुद्धिमान गृहस्थ को समझना चाहिए कि सारा सम्भव सुख, जिसका वह पहले ही अनुभव कर चुका होता है, क्षणभंगुर है।

तात्पर्य : गृहस्थ व्यक्ति अपनी पत्नी की रक्षा करते, अपने बच्चों को आदेश देते, नौकरों, नाती-पोतों, घरेलू पशुओं इत्यादि का पालन-पोषण करते स्वामी की भाँति आचरण करता है। न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि शब्द यह सूचित करते हैं कि यद्यपि मनुष्य अपने परिवार, नौकरों तथा मित्रों से घिरा हुआ

एक छोटे स्वामी जैसा व्यवहार करता है, किन्तु उसे अपने को असली स्वामी मान कर मिथ्या अहंकारवश मानसिक रूप से असंतुलित नहीं हो जाना चाहिए। *विपश्चित्* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को गम्भीर तथा बुद्धिमान बने रहना चाहिए और कभी यह नहीं भूलना चाहिए कि मैं भगवान् का नित्य दास हूँ।

उच्च, मध्यम तथा निम्न वर्ग के गृहस्थ विभिन्न प्रकार की विषय-वासनाओं में लिप्त हो जाते हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी आर्थिक अथवा सामाजिक वर्ग में, सारा भौतिक भोग, चाहे वह यहाँ का हो या अगले जीवन का, नश्वर होता है तथा अन्ततः व्यर्थ। एक उत्तरदायी गृहस्थ को चाहिए कि अपने परिवार वालों को तथा अन्य आश्रित जनों को भगवद्धाम जाने में मार्गदर्शक बने जिससे उन्हें आनन्द तथा ज्ञान का शाश्वत जीवन प्राप्त हो। उसे अल्पकाल के लिए मिथ्याभिमानी नहीं बन जाना चाहिए क्योंकि तब वह अपने पारिवारिक जनों सहित बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र में बँध जायेगा।

पुत्रदाराप्तबन्धूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः ।

अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

पुत्र—बच्चे; दार—पत्नी; आप्त—सम्बन्धीजन; बन्धूनाम्—तथा मित्रों के; सङ्गमः—संगति, साथ साथ रहना; पान्थ—यात्रियों की; सङ्गमः—संगति; अनु-देहम्—शरीर के प्रत्येक परिवर्तन सहित; वियन्ति—पृथक् कर दिये जाते हैं; एते—ये सारे; स्वप्नः—स्वप्न; निद्रा—नींद; अनुगः—घटित होने वाले; यथा—जिस तरह।

बच्चों, पत्नी, सम्बन्धियों तथा मित्रों की संगति यात्रियों के लघु मिलाप जैसी है। शरीर के प्रत्येक परिवर्तन के साथ मनुष्य ऐसे संगियों से उसी तरह विलग हो जाता है, जिस तरह स्वप्न समाप्त होते ही स्वप्न में मिली हुई सारी वस्तुएँ खो जाती हैं।

तात्पर्य : पान्थ-संगम सूचक है होटलों, भोजनालयों, पर्यटन-स्थलों या अधिक पारंपारिक सांस्कृतिक स्थानों में, ताजे पानी के कुओं तथा पगडंडियों में मुसाफिरों के क्षणिक साथ का। इस समय हम तमाम सम्बन्धियों, मित्रों तथा हितैषियों से सम्बद्ध हैं, किन्तु अपने भौतिक शरीर के परिवर्तित होते ही हम इन संगियों से उसी तरह पृथक् हो जायेंगे जिस तरह जग जाने पर हम स्वप्न की काल्पनिक वस्तुओं से तुरंत विलग हो जाते हैं। जिस तरह मनुष्य अपने स्वप्न के विषय-भोगों में लिप्त हो जाता है उसी तरह अहं-मम की भ्रामक धारणाओं के जाल में हम तथाकथित सम्बन्धियों तथा मित्रों से लिप्त

हो जाते हैं, जो हमारे मिथ्या अहंकार को तुष्ट करते हैं। दुर्भाग्यवश ऐसे क्षणिक अहंमन्यतावादी संग आत्मा तथा ब्रह्म सम्बन्धी हमारे असली ज्ञान को प्रच्छन्न कर लेता है और हम मायावश स्थायी इन्द्रियतृप्ति के लिए व्यर्थ मँडराते रहते हैं। जो व्यक्ति परिवार तथा मित्रों की देहात्म बुद्धि में लिप्त रहता जाता है, वह अहं-मम के मिथ्या अहंकार को या “मैं सब कुछ हूँ और सबकुछ मेरा है” नहीं त्याग पाता।

जब तक हम भौतिक इन्द्रियतृप्ति का परित्याग नहीं कर देते, तब तक हम भक्ति के दिव्य पद पर स्थिर नहीं हो सकते, अतएव हम नित्य सुख का रसास्वाद नहीं कर सकते। जब तक मनुष्य भगवान् कृष्ण को अपना एकमात्र सखा मान कर भगवान् का शुद्ध भक्त नहीं बन जाता, तब तक वह क्षणिक तथा दिखावटी भौतिक सम्बन्धों की लालसा को त्याग नहीं पाता। अपने घर से तथा प्रियजनों से दूर पथिक अन्य यात्रियों से बातें करता है किन्तु ऐसे सम्बन्धों का कोई अर्थ नहीं होता। अतएव मनुष्य को भगवान् कृष्ण से अपने खोये सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करना चाहिए। हम स्वभावतः भगवान् कृष्ण के भिन्नांश हैं, जो कि समस्त आध्यात्मिक आनन्द के आगार हैं और उनके साथ हमारा मौलिक सम्बन्ध प्रेम तथा सुख से पूर्ण है। किन्तु उनसे स्वतंत्र रह कर भोग करने की हमारी इच्छा से ही हम माया के भौतिक सम्बन्धों के चकरा देने वाले व्यर्थ जाल में फँसते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति यह अनुभव करता है कि इस लोक में या अन्य किसी भौतिक लोक में आत्मा को आनंद या संतोष नहीं है। अतएव उसे श्रान्त पथिक की भाँति शान्ति के लिए श्रीकृष्ण के आज्ञाकारी सेवक की भाँति भगवद्धाम वापस जाना चाहिए।

इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद्वसन् ।

न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहङ्क तः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; परिमृशन्—गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए; मुक्तः—मुक्तात्मा; गृहेषु—घर पर; अतिथि-वत्—मेहमान की तरह; वसन्—रहते हुए; न—नहीं; गृहैः—घर की परिस्थिति से; अनुबध्येत—अपने को बँधाये; निर्ममः—स्वामित्व की भावना से रहित; निरहङ्क तः—मिथ्या अभिमान से रहित।

वास्तविक स्थिति पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए मुक्तात्मा को चाहिए कि घर में एक मेहमान की तरह किसी स्वामित्व की भावना या मिथ्या अहंकार के बिना रहे। इस तरह वह घरेलू मामलों में नहीं फँसेगा।

तात्पर्य : मुक्तः शब्द समस्त भौतिक आसक्ति से छूटे हुए व्यक्ति का द्योतक है। इस अवस्था में, जिसे मुक्तसंग कहते हैं, मनुष्य अपने को भौतिक जगत का स्थायी निवासी नहीं मानता। यह मुक्त अवस्था पारिवारिक जीवन बिताते हुए भी प्राप्त की जा सकती है। इसके लिए इतना ही आवश्यक है कि वह कृष्ण-सङ्कीर्तन के कार्यक्रम में लग जाय जिसमें भगवान् के पवित्र नामों का उच्चारण, अर्चा-विग्रह की पूजा तथा कृष्णभावनामृत आन्दोलन में भाग लेना सम्मिलित है। कृष्ण-संकीर्तन के गम्भीर कार्यक्रम के बिना स्त्री-आसक्ति की लौह शृंखला को और इस आसक्ति से उत्पन्न कार्यों को त्याग पाना कठिन है।

कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्टा मामेव भक्तिमान् ।
तिष्ठेद्वनं वोपविशेत्प्रजावान्वा परिव्रजेत् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

कर्मभिः—कर्मों द्वारा; गृह-मेधीयैः—पारिवारिक जीवन के लिए उपयुक्त; इष्टा—पूजा करके; माम्—मेरी; एव—निस्सन्देह;
भक्ति-मान्—भक्त होते हुए; तिष्ठेत्—घर पर रहता रहे; वनम्—जंगल में; वा—अथवा; उपविशेत्—प्रवेश करे; प्रजा-वान्—
जिम्मेदार सन्तान के होते हुए; वा—अथवा; परिव्रजेत्—संन्यास ग्रहण करे।

जो गृहस्थ भक्त अपने पारिवारिक कर्तव्यों को पूरा करते हुए मेरी पूजा करता है, वह चाहे तो घर पर ही रह सकता है अथवा किसी पवित्र स्थान में जा सकता है या यदि उसके कोई जिम्मेदार पुत्र हो, तो वह संन्यास ग्रहण कर सकता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में गृहस्थ के लिए तीन विकल्प बतलाये गये हैं। वह घर पर रहता रहे या वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करे जिसमें अपनी पत्नी के साथ किसी तीर्थस्थान में जा सकता है। अथवा यदि उसके कोई जिम्मेदार पुत्र हो जो पारिवारिक कार्यों का भार ले सके, तो वह जीवन की समस्या के निश्चित हल के लिए, संन्यास ले सकता है। तीनों ही आश्रमों में जो सफलता मिलेगी वह भगवान् के प्रति निष्ठावान शरणागति पर निर्भर करेगी। इसलिए मनुष्य में सबसे महत्वपूर्ण जिस योग्यता को होना चाहिए, वह कृष्णभावनामृत है।

यस्त्वासक्तमतिर्गोहे पुत्रवित्तैषणातुरः ।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—किन्तु; आसक्त—लिप्त; मतिः—चेतना वाला; गेहे—अपने घर पर; पुत्र—सन्तान; वित्त—तथा धन के लिए; एषण—तीव्र इच्छा से; आतुरः—विचलित; स्त्रैणः—स्त्री-भोग के लिए कामुक; कृपण—कंजूस; धीः—बुद्धि वाला; मूढः—मूर्ख; मम—हर वस्तु मेरी है; अहम्—मैं ही सबकुछ हूँ; इति—ऐसा सोच कर; बध्यते—बँध जाता है।

किन्तु जिस गृहस्थ का मन अपने घर में आसक्त है और जो इस कारण अपने धन तथा संतान को भोगने की तीव्र इच्छाओं से विचलित है, जो स्त्रियों के लिये काम-भावना से पीड़ित है, जो कृपण मनोवृत्ति रखता है और जो मूर्खतावश यह सोचता है कि, “प्रत्येक वस्तु मेरी है और मैं ही सबकुछ हूँ” निस्सन्देह, वह व्यक्ति माया-जाल में फँसा हुआ है।

तात्पर्य : यद्यपि व्यक्ति विविध वैश्लेषिक अथवा मनोवैज्ञानिक विधियों से अपने मन को भ्रामक पारिवारिक आसक्ति से विलग करने का प्रयास करता है, किन्तु वह भौतिक आसक्ति के जाल में अनिवार्यतः गिरता रहता है जब तक उसका हृदय कृष्णभावनामृत से शुद्ध नहीं हो जाता। कंजूस गृहस्थ केवल अपने परिवार या जाति के विषय में ही सोचता है, उसे बाहरी लोगों के प्रति तनिक भी दया नहीं आती। अहंकारी, कामी, आसक्त तथा धन एवं सन्तान का भोग करने की तीव्र इच्छा वाला भौतिकतावादी गृहस्थ चिन्ता के जाल में निराश होकर बँध जाता है।

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजात्मजाः ।

अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; मे—मेरे; पितरौ—माता-पिता; वृद्धौ—बूढ़े; भार्या—पत्नी; बाल-आत्म-जा—गोद में बालक लिए; आत्मा-जाः—तथा मेरे अन्य बच्चे; अनाथाः—जिनका कोई रक्षक नहीं हो; माम्—मेरे; ऋते—रहित; दीनाः—दुखी; कथम्—इस जगत में किस तरह; जीवन्ति—जीवित रह सकते हैं; दुःखिताः—दुख सहते हुए।

“हाय! मेरे वृद्ध माता-पिता तथा गोद में बालक वाली मेरी पत्नी तथा मेरे अन्य बच्चे! मेरे बिना उनकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है और उन्हें असह्य कष्ट उठाना पड़ेगा। मेरे गरीब सम्बन्धी मेरे बिना कैसे रह सकेंगे?”

एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम् ।

अतृप्तस्ताननुध्यायन्मृतोऽन्धं विशते तमः ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गृह—घरेलू परिस्थिति में; आशय—तीव्र इच्छा से; आक्षिप्त—अभिभूत; हृदयः—हृदय; मूढ—मूर्ख; धीः—बुद्धि वाला; अयम्—यह व्यक्ति; अतृप्तः—असंतुष्ट; तान्—उनको (परिवार वालों को); अनुध्यायन्—निरन्तर सोचते हुए; मृतः—मर जाता है; अन्धम्—अंधता, अज्ञान; विशते—प्रवेश करता है; तमः—अंधकार।

इस तरह अपनी मूर्खतापूर्ण मनोवृत्ति के कारण वह गृहस्थ, जिसका हृदय पारिवारिक आसक्ति से अभिभूत रहता है, कभी भी तुष्ट नहीं होता। फलस्वरूप अपने परिवार वालों का निरन्तर ध्यान करते हुए वह मर जाता है और अज्ञान के अंधकार में प्रवेश करता है।

तात्पर्य : *अन्धम् विशते तमः* सूचित करता है कि आसक्त गृहस्थ अगले जीवन में पदच्युत किया जायेगा क्योंकि उसमें *मूढ धीः* अर्थात् शारीरिक आसक्ति की आदिम मनोवृत्ति होती है। दूसरे शब्दों में, अपने को हर वस्तु का केन्द्र मानते हुए इन्द्रियतृप्ति का भोग करने के बाद, मनुष्य निम्न योनि में प्रवेश करता है। हमें, जैसे भी हो, अपने मनो को कृष्ण में टिकाना चाहिए और अज्ञान के अंधकार से निकल कर कृष्णभावनामृत के असली जीवन में जाना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के “भगवान् कृष्ण द्वारा वर्णाश्रम प्रणाली का वर्णन” नामक सत्रहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।